जीवन पराग
विष्णु प्रभाकर

जीवन पराग

विष्णु प्रभाकर

जीवन-पराग

Jeevan prag.

श्री विष्णु प्रभाकर

visno prabhkar.

१९५२

हिन्दी प्रकाशन मन्दिर

इलाहाबाद

Hindi parkashai mandar:
Allahabad.
1952

प्रकाशक,
बृहस्पति उपाध्याय
हिन्दी प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद
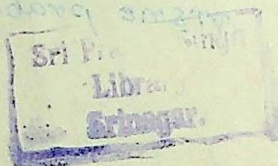
दूसरी बार : १९५२
मूल्य : एक रुपया

मुद्रक,
नारायण पाठक,
सस्ता साहित्य प्रेस, अजमेर

निवेदन

"सत्य कल्पना से अद्भुत होता है"–इस पुस्तक में इस कहावत को सिद्ध करनेवाली कहानियाँ हैं। इनकी कथा-वस्तु सच्ची है और इनमें मनुष्य की महानता के चित्र हैं, उन मनुष्यों की महानता के चित्र जो साधारण ही नहीं बल्कि उनमें से कुछ गिरे हुए भी माने जाते हैं। ये कहानियाँ बताती हैं कि मनुष्य स्वभाव से गिरा हुआ नहीं होता। हर मनुष्य के जीवन में वे क्षण आते हैं जब वह माने हुए बड़े-से-बड़े आदमी से भी बड़ा होता है। वे सब इस बात के साक्षी हैं कि यदि अवसर मिले तो वह सदा के लिए भी बड़ा बन सकता है।

इन कहानियों की कथा-वस्तु मैंने कुछ अपने जीवन से, कुछ मित्रों के जीवन से तथा कुछ दूसरे व्यक्तियों के प्रकाशित संस्करणों से ली हैं। 'वीर माता' की कथा वस्तु श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के एक लेख से, 'सम्वेदना' और 'ऋणी' की सामग्री श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की पुस्तक से,'इन्सान' की कथा श्री बलराज साहनी के एक संस्करण से, 'सहिष्णुता' की कहानी भदन्त आनन्द कौसल्यायन के निबन्ध-संग्रह से तथा 'मूक-शिक्षा' की भावना श्रीमती ताराराानी श्रीवास्तव की पुस्तक से ली गई है। कुछ कहानियों की कथा-वस्तु का आधार पुरानी सुनी और पढ़ी हुई कथाएँ हैं। मैं इन सबका आभारी हूँ।

दूसरे संस्करण की भूमिका

खुशी की बात है कि लगभग एक वर्ष बाद ही इस पुस्तक का दूसरा संस्करण हो रहा है। इस संस्करण में विद्यार्थियों की दृष्टि से कुछ परिवर्तन कर दिये गए हैं। एक कहानी भी बदल दी गई है। मुझे विश्वास है इससे पुस्तक की लोक प्रियता और उपयोगिता दोनों बढ़ेगी।

—विष्णु प्रभाकर

विषय-सूची

१. भला काम	५	१७. सेवा-भाव	४४
२. इतनी-सी बात	७	१८. पश्चात्ताप	४६
३. मुक्ति	६	१६. सौ रुपये का नोट	४८
४. प्रेम की भेंट	११	२०. वीर माता	४६
५. अतिथि	१३	२१. सबसे बड़ा शिल्पी	५१
६. क्षमा	१५	२२ ऋणी	५४
७. चोर की ममता	१७	२३. सहानुभूति	५६
८. अनोखा दण्ड	२०	२४. कर्तव्य निष्ठा	५८
६. अहङ्कार का नाश	२२	२५. बड़ा दिल	६०
१०. घृणा पर विजय	२५	२६. किसका बेटा	६२
११. डाक्टर और चोर	२७	२७. अपनी-अपनी समझ	६४
१२. दो मित्र	३०	२८. सहिष्णुता	६६
१३. मूक शिक्षण	३४	२६. सेवा	६८
१४. इन्सान	३७	३०. पत्थर	७०
१५. चोरी का अर्थ	४०	३१. शान्ति की राह	७२
१६. गुण-ग्राहक	४१	३२. निर्भयता	७४

३३. तर्क का बोझ ७५

जीवन-पराग

: १ :

भला काम

एक सज्जन को किसी आवश्यक काम से कहीं जाना था लेकिन वे अभी स्टेशन से दूर थे कि उस स्थान को जाने वाली बस चल पड़ी। यह देखकर वे दौड़े। उन्हें बस तो मिल गई, पर उनके हाथ में जो चमड़े का थैला था वह वहीं गिर पड़ा। वहाँपर एक बालचर खड़ा था। उसने थैले को गिरते हुए देखा और यह भी देखा कि बस उसकी पहुँच से बाहिर निकल चुकी है।

वह बड़ा नगर था और उस थैले पर उन सज्जन का पूरा पता भी नहीं था। ऐसी हालत में उनको ढूंढ़ना सरल काम नहीं था, फिर भी उस बालचर ने उन्हें ढूंढ़ निकाला। जब वह उनके पास पहुँचा तो थककर चूर हो चुका था; पर इस बात की चिन्ता किए बिना उसने नम्रतापूर्वक उनसे कहा—"जब आप बस में सवार हो रहे थे तब आपका थैला गिर गया था।"

और यह कह कर उसने वह थैला उन्हें दिखाया। वह उन्हीं का था। वे उसे खोया हुआ समझ चुके थे और बड़े परेशान थे। उसे फिर से पाकर वे बहुत प्रसन्न हुए और गद्‌गद् होकर बोले—"तुम इसे वहां से लेकर भागे आरहे हो ?"

"जी हाँ।"—बालचर ने कहा—"यह आपका ही तो है।"

"हाँ, यह मेरा ही है।"—उन सज्जन ने उत्तर दिया—"पर तुम जानते हो, इसमें क्या है ?"

बालचर बोला—"जी नहीं ! मैं नहीं जानता। मुझे यह जानने की क्या जरूरत है ?"

वे सज्जन हँसे, बोले—"इसमें तीन सौ रूपये हैं।"

बालचर ने जवाब दिया—"जी, तो इसी में होंगे।"

तब तक वे सज्जन थैले को खोल कर उसके अन्दर की सब चीज़ों को जाँच चुके थे। मुस्करा कर बोले—"प्यारे बच्चे ! सब कुछ ठीक है और रुपये भी ठीक हैं।"

और यह कहते हुये उन्होंने तीस रुपए के नोट बालचर की ओर बढ़ाये, "मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूँ। लो, यह रुपये तुम्हारे लिए हैं।"

बालचर कुछ घबराया, बोला—"मेरे लिए ! किस लिए ?"

सज्जन—"इसलिए कि तुमने एक भला काम किया है।"

बालचर—"सच !"

सज्जन—"हाँ, यह भला काम है।"

"तब ठीक है"—बालचर ने प्रसन्न होकर कहा—"मैं बालचर हूँ और बालचर का कर्त्तव्य है कि वह प्रतिदिन एक भला काम करे। आप इसे भला काम कहते हैं, तो मैंने आज का अपना कर्त्तव्य पूरा किया। इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।"

और फिर उनके उत्तर की राह देखे बिना वह बालचर उन्हें प्रणाम कर, जिस मार्ग से आया था उसीसे लौट गया। हाथ में नोट लिए वे सज्जन उस ओर देखते ही रह गए।

: २ :

इतनी-सी बात

भारत की राजधानी में एक दिन एक गली के आगे अचानक एक छोटी-सी भीड़ इकट्ठी हो गई। एक राहगीर ने उचक कर देखा—एक रिक्शावाला एक स्त्री से झगड़ रहा है।

रिक्शावाले ने कहा—"मैं आगे नहीं जाऊँगा। मुझे मेरे पैसे दो।"

स्त्री बोली—"मेरे साथ घर तक चलो, तो मैं तुम्हें पैसे दूँ। यहाँ तो मेरे पास और कुछ नहीं है।

"मैं आगे नहीं जाऊँगा।"—रिक्शावाले ने तेज होकर जवाव दिया।"

"तो मैं पैसे भी नहीं दूँगी।" -स्त्री ने उसी स्वर में कहा।

इसी वात पर गर्मी वढ़ रही थी। राहगीर ने सोचा—यह वात तो झगड़ने के लिए काफ़ी नहीं है। मामला कुछ और है। इसलिए वह भीड़ को हटा कर आगे वढ़ आया और पूछा—"क्या वात है? कैसी लड़ाई है?"

भीड़ में से एक व्यक्ति बोला—"वात यह है कि यह स्त्री रिक्शा में वैठ कर यहाँ तक आई थी। यहाँ उतर कर जव उसने पैसे देने के लिए गांठ खोली, तो उसमें वंधी हुई एकमात्र चवन्नी नाली में जा गिरी।"

दूसरे व्यक्ति ने कहा—"और रिक्शावाला उसे निकालने को तैयार नहीं है।"

इस पर रिक्शावाले ने तिनक कर कहा—"नहीं मैं उसे नहीं निकालूँगा। मुझे आपने क्या समझा है! मैं गन्दी नाली में हाथ नहीं डाल सकता। यह भंगी का काम है।"

राहगीर बोला—"बात तो ठीक है। गन्दी नाली में कौन हाथ दे?"

भीड़ में से अनेक व्यक्तियों ने उसका समर्थन किया। एक ने कहा—"जीहाँ! भंगी होता तो निकाल देता। अब तो यही हो सकता है कि रिक्शावाला इस स्त्री के घर तक जावे और पैसे ले ले।"

स्त्री बोली—"हाँ, मैं दो पैसे ज्यादा दे सकती हूँ।"

पर रिक्शावाले ने उसी तलखी से कहा—"मेरे साथ यहीं तक का ठहराया था। मैं यहीं पैसे लूंगा।"

अजीब समस्या थी। कुछ रिक्शावाले को कोस रहे थे, कुछ स्त्री को कहते थे, पर नाली में से चवन्नी उठाने को कोई तैयार नहीं था। वह दयालु राहगीर भी नहीं। आखिर उसने रास्ता निकाला, बोला—"रिक्शावाले, तुम्हारे पैसे मैं देता हूँ।"

यह सुन कर स्त्री एकदम तड़प उठी, कहा—"नहीं-नहीं, मैं किसी के पैसे नहीं लूंगी। इसे मेरे घर तक चलना होगा।"

रिक्शावाला क्रुद्ध हुआ, बोला—"मैं यहाँ से आगे एक कदम भी नहीं चलूंगा।"

बात फिर बढ़ी। गर्मी भी बढ़ी और भीड़ भी। तभी अचानक भीड़ को चीरता हुआ एक युवक आगे बढ़ आया। उसने नाली में से झांक कर चवन्नी को देखा। वह किनारे की मिट्टी में आधी गड़ी हुई थी। बस उसने ढक्कन उठाया और खूब नीचे झुक कर चवन्नी उठा ली। उसका हाथ गन्दे पानी से भर गया। पास ही एक लुहार की दुकान थी। वह इस दृश्य को देख रहा था। उसने उस युवक को पुकार कर कहा—"इधर आ बेटे, पानी देता हूँ। हाथ धो डाल।"

युवक ने हाथ धोकर वह चवन्नी स्त्री को दे दी और बिना एक शब्द बोले अपने रास्ते पर आगे बढ़ गया।

तब छँटती हुई भीड़ में से एक व्यक्ति ने लम्बी सांस लेकर कहा—"इतनी-सी बात थी।"

: ३ :

मुक्ति

उसे रह-रह कर बीते दिनों की याद आ जाती थी। तब उस का गला भर आता था और आँखों से आँसू टपकने लगते थे। उसे मुक्त हुए अभी बहुत दिन नहीं बीते थे। उसकी मुक्ति किसी एक आदमी की मुक्ति नहीं थी। वह उसकी सारी जाति की मुक्ति थी।

वह अमेरिका का रहने वाला एक नीग्रो था। उन दिनों अमेरिका में नीग्रो और दासता का एक ही अर्थ समझा जाता था। परन्तु उसी अमेरिका में एक ऐसा इन्सान पैदा हुआ जो उस दासता को मिटाने के लिये अपना खून बहाने से भी नहीं डरा। वह इन्सान अब्राहम लिंकन था। उसने नीग्रो-जाति से कहा—"कोई किसी को दास नहीं बना सकता। अपने जीवन को बनाने और बिगाड़ने के लिए तुम सब स्वतंत्र हो।"

और उसकी कोशिशों से नीग्रो जाति दासता से मुक्त हो गई। लेकिन मुक्त होजाने से पेट का सवाल हल नहीं होता। उसके लिये रोजगार चाहिये। उसी रोजगार की खोज में वह नीग्रो घूम रहा था। जहां भी पता लगता वह जाता और पूछता—"कोई काम है?"

पर हर कहीं उसे एक ही उत्तर मिलता—"यहाँ कोई काम नहीं है, आगे बढ़ो।"

वह आगे बढ़ जाता। घूमते-घूमते उसके वस्त्र फट गए, पैरों में बिवाइयाँ पड़ गईं, शरीर थक कर चूर हो गया। उसके लिए अब एक कदम भी आगे बढ़ना दूभर था। पर उसे तो आगे बढ़ना था। वह रुक कैसे सकता था ? रुकना मौत है। इसलिए वह बरा-

वर बढ़ता गया। अचानक इन्हीं दिनों एक दिन उसकी भेंट पुरानी मालिक जाति के एक व्यक्ति से होगई। नीग्रो की यह दुर्दशा देख कर वह व्यक्ति बहुत दुखी हुआ, बोला-"तुम्हारी यह क्या हालत हो गई है। जान पड़ता है तुम बड़ी मुसीबत सें हो।"

नीग्रो बोला—"जीहां, काम नहीं मिलता। जीना मुश्किल हो गया है।"

वह मुस्कराया—"पिछले दिनों तो तुम ऐसे नहीं थे ?"

"पिछले दिनों !"—नीग्रो ने लम्बी साँस लेकर कहा—"उन दिनों मुझे बहुत आराम था। मेरा स्वामी बड़ा दयालु था। वह मुझे कभी कठिन काम नहीं देता था। वह मुझे कभी कोड़ों से नहीं पीटता था।"

यह सुन कर मालिक जाति का वह व्यक्ति और भी सहानुभूति से भर उठा, बोला—"तब तो यह मुक्ति तुम्हें महंगी पड़ी। तुम लोग पहिले ही अच्छे थे।"

न जाने क्या हुआ ? न जाने उस कङ्काल में कहां से जीवन उमड़ आया ? वह जल्दी से उठा और दरवाजे की ओर चल दिया। वह लड़खड़ा रहा था; पर उसकी आँखों में एक तेज रौशनी चमकने लगी थी। दरवाजे पर आकर वह क्षण भर के लिए रुका, बोला—"जी नहीं। तब हम दास थे, अब मुक्त हैं। अपना जीवन बनाने और बिगाड़ने के लिये मुक्त हैं। मुक्ति इन्सान के जीवन की शर्त है।"

कह कर वह रुका नहीं, दृढ़ता से अपने रास्ते पर आगे बढ़ गया। मालिक जाति के उस व्यक्ति को ऐसा लगा, जैसे किसी ने उसके गाल पर जोर से तमाचा मार दिया हो।

: ४ :

प्रेम की भेंट

बाबू दिलीपसिंह सरल स्वभाव के सीधे-सादे व्यक्ति हैं। अभिमान उन्हें छू भी नहीं गया। वे जब इंजीनियर थे तो पद की चिन्ता किये बिना छोटे से छोटा काम करने को तैयार रहते थे। यहीं तक नहीं, उनका यह प्रण था कि वे कभी रिश्वत नहीं लेंगे और उन्होंने कभी ली भी नहीं। जब उनके पेंशन लेने का वक्त आया तब सब लोगों ने एक स्वर में यही कहा—'बा० दिलीपसिंह ने कभी रिश्वत नहीं ली।'

एक सरकारी अफसर के लिये इससे शानदार बात और क्या हो सकती थी। इसी शानदार बात के कारण लोगों ने सोचा कि विदा के अवसर पर इंजीनियर साहब को कोई ऐसी चीज़ भेंट में देनी चाहिए जिसे वे स्वीकार कर सकें।

बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने एक अंगूठी बनवाई। वह अँगूठी बहुत प्यारी, बहुत सुन्दर थी। लेकिन जिस समय वह इंजीनियर साहब को भेंट की गई तो वे असमंजस में पड़ गए। बेशक वह रिश्वत नहीं थी पर फिर भी वह उन लोगों की ओर से आ रही थी, जो रिश्वत देने के आदी रहे हैं। उन्होंने सोचा—'तो वे क्या करें? लौटा दें? बड़े प्रेम से उन्होंने उस अँगूठी को बनवाया है। उसके बदले में वे कुछ चाहते भी नहीं...।'

ऐसे ही विचार उन्हें बहुत देर तक तंग करते रहे, परन्तु जब अन्तिम निर्णय का समय आया तो उन्होंने अंगूठी स्वीकार करली। लोगों के दिल खुशी से खिल उठे। इंजीनियर साहब ने आखिर उनके प्रेम को पहचाना और उसका आदर किया।

भोजन का प्रबन्ध नदी के उस पार किया गया था। उसके समाप्त होजाने पर वे सब इस पार आने के लिए नाव पर सवार हुए। बड़ा सुहावना समय था। नाव हवा के साथ अठखेलियाँ करती हुई नदी की छाती पर नाच रही थी। आसमान में सूर्य विदा के चित्र बना रहा था। लोगों के मन में हर्ष भी था और दर्द भी। विदा में सदा एक दर्द-भरी मिठास रहती है, फिर भी वे प्रसन्न थे और रह-रह कर इंजीनियर साहब की प्रशंसा करने लगते थे। इंजीनियर साहब स्वयं हँस-हँस कर बातें कर रहे थे। वे सदा ऐसा ही करते थे।

नाव ठीक मंझधार में आ गई। लहरें जोर मारने लगीं। दूर कहीं पत्थरों से टकराकर जल गम्भीर स्वर में गर्ज उठा। मल्लाहों को अब शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। बा० दिलीपसिंह सहसा कुछ क्षण के लिए मौन हो गए, फिर उन्होंने अंगूठी को देखा ·· देखते रहे···सोचते रहे, 'कितनी सुन्दर वस्तु है! रत्न कैसे झिलमिलाता है! सौन्दर्य और कला के साथ मनुष्य का कितना प्रेम है!'

'प्रेम'—जैसे वे बुदबुदाये हों। उनके होठ हिले और साथ ही हाथ भी उठा। दूसरे ही क्षण अंगूठी हाथ से छूटकर बिजली की तरह नदी की छाती पर जा चमकी और फिर सदा के लिए लहरों में समा गई। यह सब पलक मारते ही हो गया। जबतक लोग समझे तबतक वहाँ कुछ भी शेष नहीं था।

केवल एक बार इंजीनियर साहब और उन लोगों की दृष्टि मिली। दोनों ने एक-दूसरे के दिल की बात को समझ लिया, परन्तु बोला कोई एक शब्द भी नहीं।

: ५ :

अतिथि

एक शाम जब ब्रह्मानन्द घर लौट रहे थे तो उनकी भेंट एक ऐसे व्यक्ति से हुई, जो बुरी तरह घबरा रहा था। उसके पास कुछ नहीं था और वह धर्मशाला का पता पूछ रहा था। उन्होंने उसे पास की एक धर्मशाला का पता दिया, लेकिन इस पर उसने पूछा—"क्या मैं वहाँ बिना बिस्तर के रह सकूँगा ?"

"क्या मतलब ?" ब्रह्मानन्द ने अचकचाकर कहा।

"बात यह है"—उस व्यक्ति ने जवाब दिया—"मैं घर से बिस्तर लेकर नहीं चला था; परन्तु धर्मशाला वाले उसी को ठहरने देते हैं, जिसके पास बिस्तर होता है।"

"क्यों ?"

'वे कहते हैं कि जिनके पास बिस्तर नहीं है, वे या तो चोर हैं या बम-पार्टीवाले क्रान्तिकारी।"

सुन कर ब्रह्मानन्द को हंसी आगई, पर उन भाई की समस्या काफी उलझी हुई थी। वे सड़क पर पड़े रहें, इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं था। पर ऐसे लोगों को पुलिस तंग करती है। तब वे क्या करें ?–वे इसी असमंजस में थे कि ब्रह्मानन्द ने उनसे कहा –"आइये।'

"कहाँ ?"

"मेरे साथ।"

"आपके साथ कहाँ ?"

"मेरे घर। मैं यहीं पास रहता हूँ। मेरे पास ठहरने में तुम्हें कोई दिक्कत नहीं होगी।"

वह व्यक्ति पहले तो कुछ समझा नहीं और जब समझा तो अचरज से काँप उठा। उससे बोला नहीं गया। पर अन्धा क्या चाहे दो आँखें वह उन्हीं के पास ठहर गया। उसे दो-तीन दिन का काम था।

अगले दिन अचानक ब्रह्मानन्द को एक तार मिला। वह पंजाब से उसके छोटे भाई ने भेजा था। लिखा था, "माँ सख्त बीमार है, एकदम आओ।" उन्होंने जल्दी-जल्दी सामान बटोरा। गाड़ी जाने में केवल एक घण्टा शेष था। उन्होंने उसी गाड़ी से जाने का निश्चय किया। पर वे अतिथि उस समय घर पर नहीं थे और शीघ्र लौटने की कोई आशा भी नहीं थी। तब उन्होंने चुपचाप एक पत्र लिखा, जिसमें तार की चर्चा करके बताया था कि वे आराम से कमरे में रहें और जाते समय ताली पड़ौसी को सौंप जावें।

फिर ताला लगा, ताली को चिट्ठी में लपेट उसी स्थान पर रख दिया, जहाँ पर रखने का नियम था। उन्हें आशा थी, कि वे दो-तीन दिन में लौट आवेंगे, परन्तु जब वे फिर दिल्ली लौटे तो पन्द्रह दिन बीत चुके थे। उन्होंने सदा की भांति पड़ौसी से ताली मांग कर मकान खोला और फिर अपने काम में लग गये।

उनके मस्तिष्क में यह बात बिल्कुल ही नहीं आई कि अपने पीछे वे अपने मकान में एक अजनबी अतिथि को छोड़ गये थे। वह अतिथि भी वास्तव में अतिथि था। उसने ब्रह्मानन्द से जो कुछ पाया था, उसे वह उसी सुरक्षित अवस्था में वहीं छोड़ गया।

वह 'जो कुछ' था 'विश्वास'।

: ६ :

क्षमा

डोरादीदी एक प्रसिद्ध नर्स हुई हैं। वे जिस नगर के अस्पताल में काम करती थीं, उस नगर के कुछ नागरिक नर्सों से घृणा करते थे। वे उन्हें रोमन कैथोलिक समझते थे और इसलिए उनका वहाँ रहना वे सहन नहीं कर सकते थे।

वह घृणा इतनी तेज थी कि डोरादीदी को सड़क पर चलना कठिन हो गया। वहाँ के नागरिक उनका मजाक ही नहीं उड़ाते थे, बल्कि अवसर देख कर उन पर हाथ भी छोड़ बैठते थे। एक दिन जब वे सड़क से जा रही थीं तो एक युवक ने चिल्लाकर कहा, "देखो, यह दुर्भाग्य की मूर्ति जा रही है। मैं इसे यहाँ नहीं रहने दूँगा।"

और कहने के साथ ही उसने एक बड़ा-सा पत्थर उठा कर बड़े जोर से दीदी के ऊपर फैंका। वह जाकर डोरादीदी के मस्तक में लगा। खून की धारा वह निकली। कपड़े तर हो गए, परन्तु वे सदा की तरह शान्त रहीं। एक शब्द नहीं बोलीं। चुपचाप अस्पताल लौट आईं।

उस बात को बीते बहुत दिन नहीं हुए थे कि एक दिन वहाँ जो कोयले की खान थी उसमें जोर का धमाका हुआ। जो मज़दूर उस समय वहाँ काम कर रहे थे, उनके बहुत चोटें आईं। वे अस्पताल लाए गए। डोरादीदी और उनकी दूसरी साथिनों ने घायलों की सेवा करने में कुछ नहीं उठा रखा। उन्होंने उन पर बराबर स्नेह की वर्षा की और अपनी सेवा से उनका मन मोह लिया। वे लोग उन नर्सों को सदा गाली दिया करते थे। उन्हीं में वह युवक भी था, जिसने एक दिन दीदी पर पत्थर फैंका था।

वह उन्हें बहुत अच्छी तरह पहचानता था। उसके मारे हुए पत्थर की चोट का निशान उनके मस्तक पर बना हुआ था। वह युवक उस निशान को देखता और सिर से पैर तक सिहर उठता। लेकिन वह समझता था कि दीदी उसे पहचानती नहीं है। पहचानती तो इतनी सेवा कैसे करती ? पत्थर के बदले में उसे स्नेह मिल सकता है, यह कल्पना करने में वह असमर्थ था। लेकिन ज्यों-ज्यों दीदी का स्नेह बढ़ता था, त्यों-त्यों उसके दिल में पछतावे की आग भी तेज होती जाती थी।

आखिर एक दिन उससे नहीं रहा गया। वह दीदी का हाथ अपने हाथ में लेकर रोने लगा। दीदी सदा की तरह शान्त परन्तु स्नेह भरे स्वर में बोली, "क्या बात है ? तुम रोते क्यों हो ? क्या तुम्हें कोई कष्ट है ?"

युवक के मुख से एक शब्द नहीं निकला, वह बराबर रोता रहा। दीदी उसके पास बैठ गई और धीरे-धीरे उसका हाथ सहलाने लगी। सहलाती रही और वह चुपचाप लेटा रहा। जब उसके आँसू कुछ थमे, तब उसने धीरे से पुकारा, 'दीदी !"

"कहो।"

"आप मुझे जानती हैं ?"

"हाँ, जानती क्यों नहीं !" दीदी ने मुस्कराकर कहा, "तुम कोयले की खान में काम करते हो।"

"नहीं, नहीं",युवक व्यग्रता से बोला, "आप मुझे नहीं जानतीं। मैं···मैं वह युवक हूँ, जिसने आप पर पत्थर फेंका था।"

दीदी ने उसी तरह मुस्करा कर जवाब दिया, "वह भी जानती हूँ। जिस क्षण तुम अन्दर लाए गए थे, उसी क्षण मैंने तुम्हें पहचान लिया था।"

"क्या !" युवक बड़े जोर से काँप कर बोला, "यह सब जान कर भी आपने मेरी इतनी सेवा की !"

: ७ :

चोर की ममता

एक बार गंगा-स्नान को जाते समय राजबहादुर अपने कुटुम्ब से बिछुड़ गया। गंगा नदी उसके गाँव से बहुत दूर नहीं थी। लोग अक्सर पैदल चल देते थे और अगर बैलगाड़ी पर भी जाते थे, तो भी पुरुष रास्ते का बड़ा हिस्सा पैदल चल कर पूरा करते थे। उस बार राजबहादुर अपनी दादी के साथ जा रहा था। साथ में गाँव की और भी बहुत-सी औरतें थीं। वे सब गीत गाती हुई जा रही थीं और इसी कारण सारा वन गीतों की आवाज से गूंज उठा था। उन गीतों का उद्देश्य गंगा-माता को प्रसन्न करना था। वे प्रसन्न होती थीं या नहीं; परन्तु गानेवालों का रास्ता जरूर आराम से कट जाता था।

औरतें गीत गाकर रास्ता काट रही थीं तो राजबहादुर खेल-कूद कर। बालक जो ठहरा। कभी आगे बढ़ जाता था, तो कभी पीछे रह जाता था। कभी-कभी वह जंगली फलों की तलाश में भी इधर-उधर भटक जाता था। एक बार वह ऐसा भटका कि रास्ते से दूर जा पड़ा। जब उसे ध्यान आया तो उसने देखा—अंधेरा चढ़ा आ रहा है और वह अकेला रह गया है। वह घबराया और तेजी से आगे बढ़ने लगा। बढ़ता चला गया; परन्तु मेले जानेवाला कोई भी प्राणी उसे नहीं मिला।

'तो क्या वह रास्ता भूल गया है? सामने नाला दिखाई दे रहा है? बैरँगनिया नाला…।'

राजबहादुर को कँप-कँपी आने लगी—'यहाँ चोर रहते हैं।

चोर···वे उसे नहीं छोड़ेंगे······।'

उसे कुछ सूझ नहीं पड़ा। अन्धेरा तेजी से बढ़ा आ रहा था और वह पीछे नहीं लौट सकता था। इसलिए इतना सोचने के बावजूद भी उसके पैर आगे ही बढ़ रहे थे। सहसा एक कड़कता हुआ स्वर उठा–"कौन है ?"

राजबहादुर के काटो तो खून नहीं। मुंह से एक शब्द नहीं निकला। वही स्वर फिर उठा, "ठहरो।" और साथ ही मशाल लिये तीन-चार व्यक्ति उसके पास आकर खड़े हो गए। उस वक्त चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। अन्धेरे को चीरती हुई मशाल बड़ी भयंकर लग रही थी। राजबहादुर ने एक बार उन सबको देखा। उसे लगा–वह भूतों से घिरा हुआ है। उसने दृष्टि नीचे कर ली। यद्यपि उसका दिल जोरों से धड़क रहा था, तो भी उसकी आँखों में आँसू नहीं थे।

आनेवालों में से एक डाकू ने, जो सरदार जान पड़ता था, कड़क कर पूछा, "तुम्हारे पास क्या है ?"

राजबहादुर ने कोई जवाब नहीं दिया। डाकू तेज हुआ– "नहीं बोलता, क्या गूंगा है ?"

राजबहादुर अब भी पत्थर की मूरत की तरह स्थिर खड़ा रहा। वह कुछ नहीं समझ पा रहा था। वह पूरी तरह डर भी नहीं रहा था। वह तो आकाश की तरह शून्य में भटक गया था। डाकू ने अब अपने साथी की ओर संकेत किया। उसने आगे बढ़ कर राजबहादुर की तलाशी ली। उसके पास पाँच रुपये थे। उन्हें लेकर सरदार ने कहा, "अच्छा, चादर उतार डालो।"

इस बार राजबहादुर हिला। उसने चादर उतार डाली। सरदार फिर बोला, "कोट भी उतारो।"

राजबहादुर चुपचाप कोट उतारने लगा। पहले उसने एक-एक करके सब बटन खोले। फिर बाँहें निकालने लगा कि सहसा

सरदार फिर बोल उठा, "ठहरो।"

दोनों हाथों से कोट को पकड़े हुए राजबहादुर ठहर गया। उसने दृष्टि उठा कर सरदार की ओर देखा। वह काँपा। सरदार की आँखें चमक रही थीं; उसने कहा, "पहने रहो, तुम्हें जाड़ा लगेगा।"

और फिर मुड़ कर अपने साथी से बोला, "जाओ! इसे रास्ता बता दो।"

: ८ :

अनोखा दण्ड

वह क्षण भर ठिठका, फिर बोला—"आज मैं आपको एक ऐसी घटना सुनाने जारहा हूं, जो इतनी अद्भुत और इतनी पवित्र है कि शायद आप उसपर विश्वास नहीं करेंगे। इस अद्-भुत घटना का सम्बन्ध बङ्गाल के एक सपूत हाजी मोहम्मद मोहसिन से है। वे तलवार के धनी थे। उनके शरीर में बहुत बल था। विद्वत्ता में उनसे टक्कर लेने वाले बहुत कम लोग थे और उनके अक्षर इतने सुन्दर थे कि उनकी लिखी हुई कुरान की प्रतियाँ १०००) प्रति के मूल्य पर बिकी थीं। वे धनी थे, दानी थे, दयालु थे; सच तो यह है कि वे क्या नहीं थे।

एक रात की बात है। जब वे सो रहे थे तब धन के लालच से एक चोर उनके कमरे में घुस आया। वह अभागा अभी कुछ देख भी न पाया था कि हाजीसाहब जाग उठे। दूसरे ही क्षण एक निडर सिपाही की भांति उन्होंने चोर को पकड़ लिया; लेकिन जैसे ही प्रकाश में उन्होंने उस अभागे का मुख देखा तो वे चकित रह गए। वह उनका पड़ौसी था। कुछ बुरी आदतों के कारण वह अपना सब कुछ लुटा चुका था और अब एक शैतान का आवारा जीवन बिता रहा था। उसे देखकर हाजीसाहब क्रोध से तमतमा उठे, "तुम !·· तुम मेरे घर डाका डालने आये हो ?"

पड़ौसी ने सिर झुका लिया।

वे कहते रहे, "तुम्हें शर्म नहीं आती ? तुम इतने गिर गये हो। तुम्हें अपनी जाति, अपने कुल और अपनी इज्जत का कोई ख्याल नहीं है ?"

उनका क्रोध बढ़ रहा था और अपराधी के प्राण काँप रहे थे। वह रोने लगा और उसने हाजीसाहब के पैर पकड़ कर कहा, "मुझे माफ़ कर दो। मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

"माफ़ी"! उन्होंने कड़क कर कहा, "तुम्हें माफ़ी माँगते शर्म नहीं आती ? तुम माफ़ी के योग्य नहीं हो। तुम्हें दण्ड मिलेगा।"

"यह कहकर वे उठे। उन्होंने बक्स में से रुपये निकाले और उस चोर के काँपते हुए हाथ में देकर उसे दरवाजे तक छोड़ने आये। बोले, "आज से मैं तुम्हारा अभिभावक हूँ। तुम्हें वही करना होगा, जो मैं कहूँगा। समझे। जाओ अब जाकर शान्ति से सोजाओ।"

"और उस चोर को कुछ सोचने कुछ कहने का अवसर मिले, इससे पहले वे किवाड़ बन्द करके अन्दर लौट चुके थे।"

यहाँ आकर वह ठिठका। बोला,

"मुझे आशा है, आपको उस चोर से ईर्ष्या हो रही है। होनी ही चाहिए; लेकिन क्या आप उस चोर को जानते हैं ?"

वह फिर रुका।

"आप नहीं जानते। मैं जानता हूँ। वह चोर मैं ही हूँ। मैं ही उस रात हाजीसाहब के घर डाका डालने गया था।"

यह सुनकर सभा स्तम्भित-चकित अपने प्यारे वक्ता को देखती ही रह गई।

: ६ :

अहंकार का नाश

विश्व के कोने-कोने से शान्ति के उपासक शान्तिदूत की कुटिया में आकर इकट्ठे हुए। वे संसार के युद्ध और संघर्ष से ऊब उठे थे और शान्ति की राह खोजना चाहते थे। उनके साथ दर्शक भी आये, समाचार पत्रों के सम्वाददाता भी पहुँचे। वे शान्ति का सन्देश घर घर पहुँचा देना चाहते थे। उन्हें सामग्री की आवश्यकता थी। लेकिन शान्ति के लिए तो संघर्ष करना पड़ता है। एक वेचारे सम्पादक सुवह से शाम तक उपासकों की उपासना करते, परन्तु उत्तर यही मिलता, "समय नहीं है।"

'शान्ति के उपासक और समय का अभाव'—उन सम्पादक ने उस तर्क को मानने से इन्कार कर दिया। संघर्ष और भी तीव्र हुआ। सम्पादक को कुछ सफलता भी मिली; परन्तु इसी बीच उन्हें एक फोटो की आवश्यकता आपड़ी। उसमें सभी उपासक एक स्थान पर उपस्थित थे। वे अधिकारी के पास पहुँचे और उनसे उस फोटो की एक प्रति माँगी। अधिकारी ने उत्तर दिया, "मेरे पास प्रतिनिधियों की प्रतियाँ हैं, उसके अतिरिक्त नहीं।"

सम्पादक ने प्रार्थना की; पर व्यर्थ। वे बड़े अधिकारी के पास पहुँचे। उनका उत्तर भी सन्तोषजनक नहीं था। फिर भी उन्होंने छोटे अधिकारी को लिखा "कोई वची हुई प्रति हो तो इन सम्पादक को दे दो।"

यह पत्र पाकर छोटा अधिकारी और भी तेज हो उठा। उसने कहा, "मेरे पास कोई प्रति नहीं है।"

सम्पादक वोले, "देखिये तो।"

"मैं देख चुका"-छोटे अधिकारी ने धैर्य खोकर कहा, "मेरे पास गिनी हुई प्रतियाँ आई थीं।"

"पर कोई ऐसे भाई तो होंगे, जो फोटो नहीं लेना चाहेंगे।" सम्पादक ने फिर तर्क किया।

"ऐसा कोई नहीं है।"

"तो आप हमारे लिए एक प्रति मँगवा दीजिए।"

"यह हम नहीं कर सकते। आप ले आइये। फोटोग्राफर शहर में रहता है।"

"पर उसका पता?"

निश्चय ही छोटा अधिकारी तबतक बिलकुल धैर्य खो चुका था। उसने झुंझलाकर कहा, "आप मुझे परेशान कर रहे हैं। मेरे पास एकदम समय नहीं है। पता फोटो के माउण्ट पर लिखा होगा, देख लीजिए।"

सम्पादक इस उत्तर के लिए तैयार नहीं थे। कुछ तेज होकर बोले, "आप कैसी बातें करते हैं! क्या हमारे पास ही फालतू समय है?"

अधिकारी ने और भी तेज होकर कहा, "मैं आपसे अधिक बातें नहीं कर सकता। मुझे शान्ति-सम्मेलन का काम करना है।"

"तो क्या आप समझते हैं, फोटो मुझे अपने घर में टाँगना है? मैं भी शान्ति-सम्मेलन के लिए काम करने आया हूँ। मैं आपके काम का प्रचार करना चाहता हूँ। मैं अपने पत्र का 'विश्व-शान्ति अंक' निकाल रहा हूँ।"

लेकिन यह तर्क उस थके हुए अधिकारी को शान्त नहीं कर सका। झगड़ा बढ़ता चला गया और कुछ ही क्षणों में उस झगड़े से पैदा होने वाले कड़वे धुएं ने वातावरण को ढँक लिया। लेकिन बात इससे आगे बढ़े कि मित्र लोग सम्पादक-बन्धु को बाहर ले आये। अधिकारी को भी काम करना था। झुंझला कर वह टाइप

की मशीन पर जा बैठा।

जैसे बात बीत गई। जो लोग वहाँ इकटठे हो गए थे, वे मुस्कराते हुए चले गये। वे सोच रहे होंगे कि शान्ति के लिए घोर संघर्ष करना होगा। सम्पादक-बन्धु बहुत देर तक बाहर एक प्रतिनिधि से शांति की चर्चा करते रहे। कर चुके तो वे फिर अन्दर की ओर मुड़े। मित्रों को डर हुआ कि कहीं यह झगड़ा फिर शुरू न हो जाए; लेकिन हुआ यह कि अधिकारी के पास जाकर सम्पादक-बन्धु ने कहा, "अच्छा मैं अब जा रहा हूँ। लाओ, मुझे दो अपना हाथ !"

और उन्होंने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। अधिकारी की समझ में कुछ नहीं आया। चकित होकर उसने कहा, "नहीं, नहीं···!"

"नहीं कैसे ?"—सम्पादक ने स्नेह भरे स्वर में कहा, "हमें मित्र की तरह विदा होना चाहिए। मुझे खेद है, मैं तेज हो गया था।"

"नहीं, नहीं, मैं इस योग्य नहीं हूँ, मैं थका हुआ हूँ···।"

पर सम्पादक ने उसकी बात नहीं सुनी। आगे बढ़कर उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। उसे स्नेह से हिलाया और कहा, "अब ठीक है। हम मित्र हैं. प्रिय मित्र।"

अधिकारी मुस्कराने लगा। उसकी आँखों में कृतज्ञ स्नेह उमड़ आया।

: १० :

घृणा पर विजय

बेल्जियम की वीरता कहावत बन गई है। पहले विश्वयुद्ध में उसने रक्त की आखिरी बूंद बहा कर शत्रु को अपने देश में आने दिया था। दूसरे विश्व-युद्ध में भी वह उसी वीरता से लड़ा; परन्तु रक्त की आखिरी बूंद गिरने से पहले ही बर्बर जर्मन सैनिकों ने उसे आत्म-समर्पण के लिए विवश कर दिया। उसके बाद जर्मन सैनिकों ने उस घायल देश पर जो अत्याचार किये, उनकी कल्पना करके दानवता भी सिहर उठती है।

देश के नेताओं ने यह सब कुछ देखा और वे तड़प कर रह गए। प्रसिद्ध जननेत्री श्रीमती माग्दा यूरस युद्ध से घृणा करती थीं। वे शान्ति की उपासिका थीं। पर जर्मनों के इस अत्याचार ने उन्हें बुरी तरह दुखी कर दिया। वे अपने देशवासियों का पलायन देखकर घृणा से भर उठीं। उस बुरी हालत में वे पीड़ितों के आँसू पोंछती हुई इधर-उधर घूमा करती थीं। एक दिन उन्होंने एक घायल सिपाही को देखा। वह जर्मन था, उनके देश का शत्रु। वे घृणा से मुंह मोड़ कर आगे बढ़ गईं; लेकिन घायल की करुण पुकार निरन्तर कानों में आ रही थी। उस पुकार में वही पीड़ा थी, वही दर्द था, जो बेल्जियम के नागरिकों की पुकार में था। वे जैसे काँपी; पर दूसरे ही क्षण उन्होंने गरदन को जोर से झटका दिया—"नहीं, नहीं, इसे मरना ही चाहिए, मरना ही चाहिए। मैं इसके लिए कुछ नहीं कर सकती"

और वे आगे बढ़ गईं; पर मन पीछे लौट रहा था—"उसका स्वर वैसा ही है, वह उसी तरह मर रहा है! क्या उसके मरने से मेरे देश का भला होगा? ···क्या अत्याचार रुक सकेगा?"

श्रीमती ने फिर भी जोर से कहा, "नहीं-नहीं, मैं कभी नहीं लौटूंगी···।"

"न लौटो! वह एक मनुष्य है। एक मनुष्य के मरने से संसार का क्या बिगड़ता है? हाँ, कोई अंतर नहीं पड़ता! विचार वे ही रहेंगे। अत्याचार उसी तरह चलता रहेगा।···"

श्रीमती यूरस सहसा ठिठकीं, "मनुष्य ··· संसार ··· विचार···।"

वे फुसफुसाईं—"विचार वैसे ही बने रहेंगे। वैसे ही···।"

"हां, विचार वैसे ही रहेंगे। नाजियों का जुल्म उसके मरने से नहीं मिटेगा।"

"तो···!"

"कुछ नहीं! तुम जाओ। उसके मरने से तुम्हें सुख होगा···।"

न जाने क्या हुआ। श्रीमती यूरस चिल्ला उठीं—"मैं अपना सुख नहीं चाहती। मैं शांति चाहती हूँ। मैं इस अत्याचार का, इस शोषण का अन्त चाहती हूँ!"

और तभी घायल की करुण पुकार फिर उनके कानों में पड़ी। अचरज से उन्होंने देखा कि तब वे वहीं घायल सैनिकों के पास खड़ी हुई अपने ही मन से तर्क कर रही थीं। बस, फिर तो वे वहीं उस घायल के पास बैठ गईं और देखने लगीं, कि उसे कैसे सहायता पहुँचाई जा सकती है।

जर्मन ने उन्हें देखा तो पीड़ा में भी विस्मित होकर बोल उठा— 'आप!"

स्नेहपूर्ण स्वर में श्रीमती यूरस ने कहा, "बोलो नहीं! तुम्हें अभी अस्पताल पहुँचाने का प्रबन्ध करती हूँ। तब तक जरा मुझे पट्टी बाँध लेने दो। हाँ, तनिक ऐसे···बस, बस, तुम ठीक हो जाओगे ·।"

◎

: ११ :

डाक्टर और चोर

"डाक्टर साहब के घर चोरी हुई है। सभी कीमती सामान चला गया।"

यह समाचार क्षण भर में चारों ओर फैल गया। बात हवा के परों पर उड़ती है। और फिर सनसनी पैदा करने वाली बातें वे ऐसी दौड़ती हैं जैसे ट्रेनों में तूफान मेल या दकन क्विन दौड़ती है। देखते देखते नातेदार आये, मित्र आए, पड़ौसी आए। पूछा— "क्या गया है ? कैसे गया है ?"

फिर डाक्टर साहब से सहानुभूति प्रकट की और सोचने लगे— "कौन हो सकता ?"

किसीने किसी पर शक किया, किसीने किसी पर। किसी ने पुलिस को दोष दिया तो किसीने समाज को। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने चोरी के सम्बन्ध में अनेक किस्से सुनाए जो कि उन्होंने ऐसे ही अवसरों पर सुनाने के लिए याद कर लिए थे।

एक बन्धु बोले—"आपका शक किस पर है, डाक्टर साहब ?"

डाक्टर साहब ने कहा—"कोई ऐसा व्यक्ति याद नहीं आता जिस पर शक किया जा सके।"

"पुलिस क्या कहती है ?"

"अजी, पुलिस कुछ कह सके तो चोरी ही क्यों हो ?"—एक भाई ने बीच में सांस खींचकर कहा और फिर एकदम चुप हो गए।

कुछ लोगों ने इस बात का समर्थन किया। कुछ मुस्कराये पर

मतलब की बात कुछ नहीं हुई । हां, जाते-जाते एक व्यक्ति ने गंभीर होकर कहा—"कुछ भी हो चोर को डाक्टर के घर चोरी नहीं करनी चाहिए थी ।"

दूसरे ने पूछा—"क्यों ?"

"क्यों क्या ? डाक्टर जनता का सेवक है । उसे तंग नहीं करना चाहिए ।"

"तुम्हारी बात ठीक है पर कौन जाने चोरी करने वाला कोई मरीज हो ?"

"यह और भी बुरी बात है ।"

डाक्टर ने दृढ़तापूर्वक कहा—"नहीं, नहीं, यह मरीज का काम नहीं है ।"

और वे अपने काम में लग गये । सदा की भांति उन्होंने अपने सब काम किये और रात को ठीक समय पर सो गए । लेकिन सवेरे जब आँख खुली, तो देखा—बरामदे में कुछ गड़बड़ है, कुछ पड़ा है ।

"क्या आज फिर चोरी हुई ?'—उन्होंने घबराकर सोचा और बाहर निकल आये ।

"यह क्या ? क्या वे सपना तो नहीं देख रहे हैं ? यह तो वह सामान है जो पहली रात को चोरी गया था ।"—उन्होंने एकदम चिल्लाकर कहा—"अरे देखो, यह क्या है ? यह यहां कौन रख गया ?

वहाँ फिर एक भीड़ इकट्ठी हो गई । सबने अचरज से उस सामान को देखा । पूछने लगे—"यह सामान यहाँ कैसे आया ?"

डाक्टर ने उसी स्वर में उत्तर दिया—"यही तो समझ में नहीं आता । जैसे ही सोकर उठा तो देखा यह सामान यहां रखा हुआ है ।"

"किसी को लाते देखा ?"

"किसी को नहीं।"

"बड़े अचरज की बात है ?"

"अचरज तो है ही।"

चोर ने चोरी क्यों की और की तो सामान वापिस क्यों रख गया ?''

डाक्टर कुछ जवाब दे कि उनकी दृष्टि सूटकेस में बंधी एक परची पर गई। उस पर लिखा था-"हमें पता नहीं था कि यह डाक्टर का घर है।

: १२ :

दो मित्र

पूर्वी-पंजाब के एक छोटे से कस्बे में दो मित्र रहते थे, मंहदीहसन और भागीरथलाल। मंहदीहसन एक छोटे-से जमींदार थे और भागीरथलाल एक स्कूल-मास्टर। मंहदीहसन के बाप जिन्दा थे और हाथ रोककर खर्च करने में विश्वास करते थे। इसके विपरीत मंहदीहसन का हाथ खुला हुआ था। उन्हें जब कभी पैसे की तंगी होती तो वे मित्र का सहारा लेते। होते-होते उनपर सैकड़ों रुपयों का कर्ज हो गया। देते भी रहते थे पर हिसाब कभी चुकता नहीं होता था।

और सच पूछो तो हिसाब जैसी कोई चीज़ थी भी नहीं। मंहदीहसन को जब कभी रुपयों की ज़रूरत होती तो माँग लाते, न रुक्का था न तमस्सुक। वचन सब कुछ था। मित्रता भेद नहीं जानती, कागज पत्र भेद डालते हैं। फिर मंहदी और भागीरथ उस भेद को कैसे पास आने देते। दोनों दो शरीर एक प्राण थे। दोनों को शतरंज का शौक था। बाजी लगती तो लग ही जाती। घंटों दोनों सिर पर हाथ रखे सोचा करते, दिन डूब जाता मगर भागीरथ के वजीर को रास्ता नहीं मिलता। मंहदी कभी मुस्कराता, कभी चमककर कहता—"असाँ चल भी दो, कहाँ जायगा भागकर।"

"हूँ"—भागीरथ जवाब देता—"चल कैसे दूं। तेरा मोहरा बैठा है न! नाग बनकर डस लेगा पर बच्चू! याद रखना वह मात दूँगा कि खेल भूल जाएगा।"

मंहदी हँस पड़ता—"भूल जाऊँगा तो तुम्हें ही सिखाना होगा।"

भागीरथ भी हँस पड़ता और मात पीछे पड़ जाती।

सदा की भाँति एक दिन दोनों दोस्त बैठे खेल रहे थे। शत-

रंज का खेल शाही होता है। खेलनेवाले भी उसके प्रभाव में आजाते हैं। मंहदी ने जब एक बार बहुत देरतक चाल नहीं चली तो भागीरथ ने कहा—"अरे भई, चलो न चाल। क्या वजीर को पकड़े बैठे हो !"

मंहदी ने सोचते हुए जवाब दिया—"चलता हूँ। ऐसी भी क्या जल्दी है ?"

भागीरथ – "जल्दी क्या करेगी, एक घंटा हो चुका है।"

मंहदी —"आप एक घंटे की बात करते हैं, जनाब ! एक जिन्दगी गुजर जाती है पर चाल नहीं चली जाती।"

भागीरथ—"आग लगे ऐसी जिन्दगी में। ऐसे लोग बुद्धू होते हैं।'

मंहदी—"बुद्धू नहीं जनाब, यह खेल शाही लोगों का है।"

भागीरथ—"इसमें शाही और बे-शाही की क्या बात है ? मैं जानता हूँ कि यह सब अपनी बेवकूफी को छिपाने की चाल है।"

इस प्रकार बात बढ़ने लगी पर बाजी नहीं बढ़ी। वह बहुत धीरे-धीरे चलती रही। हाँ, इस बार मंहदी दब रहे थे तो दूसरी बार भागीरथ दब गए। लगे सोचने और गुनगुनाने। तब मंहदी ने कहा-"मियाँ,यह मुशायरा नहीं,शतरंज का खेल है। चाल चलो !"

भागीरथ—"चलता हूँ।"

मंहदी —"चल चुके ! खेलना जानते नहीं, चल दिये खेलने।"

भागीरथ—'तुम बहुत जानते हो। अभी तो ..... ।"

मंहदी - "अभी तो क्या ? चाल चलो।"

"चाल चलो"—झुंझलाकर भागीरथ ने कहा और फीले को उठाकर आठ नम्बर पर रख दिया लेकिन हाथ से छोड़ा नहीं। मंहदी ने देखा तो खुशी से चिल्ला उठा और प्यादे को उठाकर तेजी से बोला ....

पर वह एक शब्द भी नहीं बोल पाया था कि भागीरथ ने फीले को उठाकर फिर पहली जगह पर रख दिया। मंहदी एक

बार तो कुछ समझ नहीं सका कि यह क्या हुआ पर दूसरे ही क्षण चिल्लाकर बोला—"फीला वहीं रख दो।"

भागीरथ—"क्यों रख दूँ। अभी मैंने चाल चली कहाँ थी। मैं तो देख रहा था।"

मंहदी—"तुमने आठ नम्बर पर फीला नहीं रखा ?"

भागीरथ—"जी नहीं। मैंने उसे हाथ से नहीं छोड़ा था।"

मंहदी—"हाथ से नहीं छोड़ा। हाथ से जन्मभर नहीं छोड़ोगे, तो क्या चाल नहीं मानी जाएगी।"

भागीरथ—"जी हाँ, नहीं मानी जाएगी।"

मंहदी—"कैसे नहीं मानी जाएगी। कोई धींगा-मस्ती है। खेलना सीखो, रोते क्यों हो ?"

भागीरथ—"रोते तुम हो। हार रहे थे तो लगे चिल्लाने।"

मंहदी—"हार तो तुम रहे हो। दूसरे को चरकाते हो। भला चाहते हो तो मोहरा वहीं रख दो।"

भागीरथ—"नहीं रखता। धमकी क्यों देते हो ? ज़मीदार हो तो क्या मार डालोगे।"

मंहदी—"हाँ मार डालूंगा। तुमने समझा क्या है ? तुम मक्कारी करते हो।"

यह सुनना था कि भागीरथ तेज हो उठा। उसने शतरंज को लात मारी और क्रोध में भरकर कहा—"क्या बकते हो ? किस बात का जोम है तुम्हें ? क्या समझा है तुमने ? मैं भागीरथ हूँ। तुम्हारा मुंह तक नहीं देखूंगा। तुम्हारे पास तक आकर नहीं फटकूंगा।

और फिर बहुत बकझक करके, जिसमें मंहदी ने भी पूरा भाग लिया, भागीरथ सीधा अपने घर चला गया। क्रोध से दोनों तिल-मिला रहे थे। दोनों अपने आपको भूल चुके थे। भागीरथ घर आकर बहुत देरतक लेटे रहे फिर जब धीरे-धीरे तेजी कुछ कम हुई तो उन्होंने उठना चाहा तभी मंहदी का पुराना नौकर

सामने आकर खड़ा हो गया। वह कुछ अनमना-सा था। बोला—"छोटे मालिक ने यह चिट्ठी दी है।"

भागीरथ उबल पड़ा—"क्या है?"

नौकर—"यह चिट्ठी है।"

भागीरथ ने चिट्ठी लेली। उसमें लिखा था—"मैंने तुमसे बहुत कर्ज लिया है। अब भी मुझे तुम्हारे कई सौ रुपए देने हैं। उनकी कोई तहरीर नहीं है। शायद तुम सोचते होगे कि मैं कभी इन्कार कर सकता हूँ। ठीक भी है, किसी का क्या पता। इसलिए मैं उन रुपयों का रुक्का लिखकर भेज रहा हूँ।"

चिट्ठी पढ़कर भागीरथ शान्त होने के स्थान पर और भी तेज हो उठा। आँखों से चिनगारियाँ उड़ने लगीं। रुक्के को पढ़ा तक नहीं। टुकड़े-टुकड़े करके बाहर फैंक दिया और चिल्लाकर कहा—"मुझे क्या समझा है। मैं इतना नीच हूँ कि रुक्का लिखवाऊँगा। मैं···मैं ··अपने को नवाब समझते हैं। लाट-साहब! लेकिन ..लेकिन···

नौकर ने यह हालत देखी तो उल्टे पैरों भागा। भागीरथ ने तब और भी चिल्लाकर कहा—"कह देना मैं इतना नीच नहीं हूँ कि किसी की नीयत पर शक करूँगा।

नौकर ने घर आकर सबकुछ मंहदीहसन से कह दिया। मंहदी ने सुन लिया। क्षण भर कुछ सोचा फिर उसका सारा शरीर काँपने लगा। न जाने क्या हुआ जैसे खड़ा था वैसे ही दौड़ पड़ा। सीधा भागीरथ के घर पहुँचा और उसकी कौली भर ली। भागीरथ एकबार तो तमतमाया, अपने को छुड़ाने की कोशिश की पर फिर पिघल गया।

कुछ देर बाद नौकर ने अचरज और हर्ष से देखा कि दोनों मित्र फिर शतरंज की बाजी लगाये अट्टहास कर रहे हैं।

⊚

: १३ :

मूक-शिक्षण

फुलेनाप्रसाद जैसे शरीर से सुन्दर थे वैसे ही मन से भी थे। वे अपने देश को प्यार करते थे। गरीबों पर उनका विशेष स्नेह था। वे सदा उनके दुःख दूर करने में लगे रहते थे। अपना ध्यान वे बिल्कुल नहीं रखते थे। न तो अच्छी तरह खाते-पीते थे, न पहनते-ओढ़ते थे। उनकी पत्नी तारादेवी को यह वैराग्य अच्छा नहीं लगता था। वे पति को रोकती तो नहीं थीं परन्तु अपना ध्यान न रखना उन्हें पसन्द नहीं था। एक दिन उन्होंने हँसी-हँसी में पति से कहा—"देखिये जी, सन्यासी बनने का वक्त तो बहुत देर से आयगा। आप अभी से उसकी, चिन्ता क्यों करते हैं और फिर उसके योग्य बनने के लिए हमें गृहस्थ-धर्म का अच्छी तरह पालन करना चाहिए।"

हँसी की बात थी, फुलेनाप्रसाद भी हँस पड़े और बात उड़ गई।

जाड़ों का मौसम आ पहुँचा। फुलेनाप्रसाद के पास एक भी गरम कोट नहीं था। पत्नी ने कई बार कहा पर वे टाल गए। आखिर वह कब तक देखती रहती। एक दिन चुपचाप बाजार गई और ओवरकोट के लिए ऊनी कपड़ा खरीद लाई। वह उस दिन बहुत प्रसन्न थी। मन-ही-मन सोच रही थी—कुछ भी क्यों न हो, आज वे जरूर उसकी प्रशंसा करेंगे। और प्रशंसा न भी करें प्रसन्न तो होंगे ही। इसीलिए रात को जब फुलेनाप्रसाद घर आये तो उसने वह कपड़ा उन्हें देकर कहा—"सवेरे दर्जी को कोट सिलने दे आइए।"

फुलेनाप्रसाद ने कुछ चौंक कर पूछा—"मैं ?"

तारादेवी—"जी हाँ, आप।"

फुलेनाप्रसाद—"किसके लिए ?"

तारादेवी—"अपने लिए।"

जैसे फूल मुरझा जाता है कुछ इसी प्रकार मुस्कराकर फुलेनाप्रसाद ने जवाब दिया—"मैं कोट सिलवाऊँ ?"

यह सुनकर तारादेवी को जैसे पाला मार गया। दबे स्वर में बोली—"तो क्या मैंने गलती की है ?"

जैसे वे जागे। हंस पड़े। कहा—"अरे नहीं। यह किसने कहा।"

तारादेवी—"लगता तो कुछ ऐसा ही है।"

फुलेनाप्रसाद—"अरे छोड़ो भी। तुम तो एक बात को पकड़ लेती हो। आओ चलो घूम आएँ। दरजी की दुकान पर तो कल जाना है।"

दोनों घूमने चले। घूमते-घूमते वे दोनों उधर जा निकले जिधर मज़दूर रहते थे। उन दिनों कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और वहाँ की भूमि सीली, दुर्गंध से भरी हुई तथा ऊँची-नीची थी। उसपर फोड़े-फुंसियों की तरह बहुत-से टूटे-फूटे घर फैले पड़े थे। उनमें रहनेवाले मनुष्य केवल शक्ल से मनुष्य जान पड़ते थे। वैसे उनके शरीर पर वस्त्र नहीं थे, पेट में अन्न नहीं था। गरीबी और गन्दगी—इन दोनों की छत्र-छाया उन्हें खुल कर मिली थी।

यह सब देखकर तारारानी का मन बहुत दुखी हुआ पर वे कुछ बोली नहीं। चुप-चाप आगे बढ़तीं चली गईं। आखिर वे एक चौक में जा पहुँचे। वहाँ एक अलाव जल रहा था और उसके चारों ओर खुले आसमान के नीचे बहुत-से नंगधड़ंग बच्चे और अधनंगे बूढ़े लेटे हुए थे।

ताराराानी सिहर उठी । पूछा—'यह क्या है ।"

फुलेनाप्रसाद ने जवाब दिया—"अपनी आँखों से पूछो ।"

ताराराानी फिर कुछ नहीं बोली । चुपचाप घर लौट आई । अगले दिन वह सदा की तरह बाजार गई और कोट का कपड़ा साथ ले गई । सीधे उसी दुकान पर पहुँची जहाँ से कपड़ा खरीदा था । बोली—"इसे ले लीजिये और इसके बदले में कुछ बने बनाये कपड़े बच्चों के लिए दे दीजिये ।"

: १४ :

इन्सान

चलती हुई लारी एक झटके के साथ रुक गई। अपनी टाँगों के लिहाज से बहुत ऊँची साईकल चलानेवाला एक बालक उसके नीचे आगया था। बलराज यह सब देख रहा था। लारी के रुकते-रुकते वह फुर्ती से नीचे कूदा और उसने बड़ी सावधानी से बालक को बाहिर खींच लिया। उसके जख्मों से खून बह रहा था और वह बेहोश-सा था पर तो भी कोई संगीन चोट उसे नहीं दिखाई दी। उसने एकदम उसे अस्पताल ले चलने की बात कही पर तभी वहाँ एक भीड़ इकट्ठी हो गई। उसमें एक बूढ़ा आदमी भी था जो कुछ इस तरह से उस बालक को देख रहा था कि बलराज से रहा नहीं गया, पूछा—"तुम्हारा बालक है?"

बूढ़े आदमी ने शान्त स्वर में कहा—"मेरा बेटा है।"

अचरज, वह न तो रोया ही, न उसने किसी को गाली दी। बलराज ने उससे कहा—"इसे अभी अस्पताल ले चलते हैं। बच जायेगा। आओ तुम भी अन्दर बैठ जाओ। ड्राइवर का इसमें कोई कसूर नहीं है।"

बूढ़ा उसीतरह बोला—"जैसा आप कहें।"

पर वह जो भीड़ इकट्ठी हो गई थी वह बालक को तो भूल गई और ड्राइवर के पीछे पड़ गई, क्योंकि ड्राइवर और बालक दोनों अलग-अलग जातियों के थे। कुछ लोग आगे बढ़कर ड्राइवर को पीटने लगे। बलराज को उस समय ऐसा लगा कि अगर कुछ किया नहीं गया तो हालत बिगड़ जायगी। बस वह फुर्ती से लारी

के हुड पर जा खड़ा हुआ और जोर-जोर से लैक्चर की तरह बोल कर लोगों को समझाने लगा। भीड़ पर इस बात का मन चाहा प्रभाव पड़ा और वह मुसाफ़िरों को समझा बुझाकर लारी को अस्पताल ले जाने में सफल होगया।

बूढ़ा बराबर चुप रहा। डाक्टर के सामने भी नहीं बोला। उसकी दृष्टि बस लहूलुहान बेटे पर जमी हुई थी जैसे वह मन-ही-मन भगवान् से उसे अच्छा करने की प्रार्थना कर रहा हो। लेकिन क़ानून की बात तो क़ानून की बात है। जबतक पुलिस नहीं आ जाती तबतक डाक्टर घायल को छू नहीं सकता।

एक अद्भुत दृश्य था। एक घायल लड़का जिसके घावों से बराबर खून बह रहा है—एक बूढ़ा बाप जो अपने घायल बेटे के बदन को सहलाता हुआ चुपचाप बैठा है—और वक्त बीत रहा है......और बलराज तिलमिला रहा है। सोच रहा है—इन्सान की कीमत। एक इन्सान की कीमत क्या कुछ भी नहीं है ?

आखिर आध घण्टा बाद हवलदार साहब पधारे। फीते से घावों की नपाई शुरु हुई। टाँगें, पैर, कन्धे, छाती, सिर और पीठ सभी स्थानों के घावों की पैमाइश हुई। फिर बालक का हुलिया, बाप का नाम, बालक का बयान और ड्राइवर का बयान ये सब लिखे गए।

तब कहीं पट्टी शुरू हुई और उसे अस्पताल में दाखिल कर लिया गया। इसके बाद हवलदार ने बूढ़े से पूछा—"बाबा ! लारी-वाले का चालान करवाना चाहते हो ?"

बूढ़े ने जवाब दिया—"उसका कोई कसूर नहीं है। मेरा बेटा बच गया। मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

किसी को इस उत्तर की आशा नहीं थी। सबके दिल श्रद्धा से भर उठे। हवलदार ने लारीवाले से कहा—"ड्राइवर !"

"हुज़ूर !"

"बाबा ने तुम्हें माफ़ कर दिया है। तुम लड़के के इलाज के लिए इसे दस रुपये दो।"

सब सुननेवालों ने इस बात का समर्थन किया और ड्राइवर ने फ़ुर्ती से दस का एक नोट निकालकर बाबा की ओर बढ़ाया। लेकिन बाबा ने बड़ी सादगी से, जैसे कुछ हुआ ही नहीं था, उसका हाथ वापिस फेर दिया और अपने बच्चे के सिरहानें जा बैठा।

: १५ :

चोरी का अर्थ

एक लम्बे रास्ते पर सड़क के किनारे उसकी दूकान थी। राहगीर वहीं, दरख्तों के नीचे बैठकर थकान उतारते और उससे कुछ चना-चवेना लेकर भूख मिटाते। दूकानदार उन्हें ठण्डा पानी पिलाता और सुख-दुख का हाल पूछता। इसप्रकार तरोताजा होकर राहगीर अपने रास्ते पर आगे बढ़ जाते।

एक दिन एक मुसाफ़िर ने एक आने का सामान लेकर दूकानदार को एक रुपया दिया। उसने सदा की भांति अन्दर की अलमारी खोली और रेज़गारी देने के लिए अपनी चिर-परिचित पुरानी सन्दूकची उतारी। पर जैसे ही उसने ढक्कन खोला उसका हाथ जहाँ था वहीं, रुक गया। यह देखकर पास बैठे हुए आदमी ने पूछा –"क्यों, क्या बात है ?"

"कुछ नहीं"—दुकानदार ने ढक्कन बन्द करते हुए कहा-- "कोई गरीब आदमी अपनी ईमानदारी मेरे पास गिरवी रखकर पैसे ले गया है।"

: १६ :

गुण-ग्राहक

उनका नगर संकट में था। शत्रु की सेना चारों ओर से उमड़ रही थी। लगातार बम बरस रहे थे। अनेक प्रयत्नों के बावजूद वे उसे एक कदम भी पीछे हटाने में असमर्थ थे।

एक नागरिक ने कहा—"आस्ट्रिया की सेना बहुत शक्तिशाली है।"

दूसरा नागरिक, जिसका नाम टीटो स्पेरी था, बोल उठा—"ब्रेसिया नगर के रहनेवालों की नसों में भी पानी नहीं बहता। हम यूंही हार मानने वाले नहीं हैं!"

और उसका कहना सच था। एक बहुत बड़ी सेना के सामने मुट्ठीभर नागरिकों का डटे रहना साधारण बात नहीं थी। बहुत सम्भव था कि वे जीत जाते; परन्तु दुश्मन की सेना का सेनापति बड़ा चतुर था। वह आयर्लैण्ड का रहनेवाला था और उसका नाम जनरल लवाल था। उसकी चातुरी के आगे ब्रेसिया के नागरिकों की एक न चली। अन्त में मन्त्री-परिषद की बैठक बुलाई गई। एक ने सूचना दी—"अन्न समाप्त हुआ चाहता है।"

दूसरा बोला—"पानी की हालत और भी खराब है।"

"कोई चिन्ता नहीं"—स्पेरी बोल उठा—"हम प्राण दे देंगे, पर नगर नहीं छोड़ेंगे।"

जो बूढ़े थे, वे मुस्कराये। एक ने गम्भीर स्वर में कहा—"तुम्हारा साहस धन्य है, स्पेरी! पर तुमने अभी परिस्थिति को

समझा नहीं है। तुम आवेश में हो और आवेश मनुष्य को अंधा कर देता है।"

स्पेरी तिलमिलाया, पर उसने अपने को रोका। बोला—"तो आप क्या करने को कहते हैं ?"

उत्तर मिला—"सबसे पहले हमें परिस्थिति पर विचार करना है और उसके वास्ते हमें विराम-सन्धि के लिए प्रार्थना करनी होगी।"

"सन्धि !"—स्पेरी फुसफुसाया।

"केवल विराम-सन्धि।"—वृद्ध ने उसे ठीक किया—"हम जय चाहते हैं स्पेरी ! विनाश नहीं।"

स्पेरी ने सिर झुका लिया। कुछ क्षण बाद सफेद झण्डा ऊँचा उठा; शस्त्र नीचे रख दिये गए और बातचीत करने के लिए नागरिकों का एक शिष्ट-मंडल शत्रु-सेनापति लवाल के पास चला। उस मण्डल में स्पेरी भी था। उसका हृदय पराजय की पीड़ा से भरा हुआ था; परन्तु उसकी आँखों में आत्म-सम्मान की रेखाएँ रह-रह कर उभर उठती थीं। इसी कारण बातचीत बहुत आगे नहीं बढ़ सकी। सेनापति किसी बात पर क्रोध से भर उठे। उन्होंने तेजी से कहा—"कुछ भी हो, हम नगर में प्रवेश करेंगे।"

उसी तेजी से स्पेरी ने गरदन उठाकर पूछा—"कैसे ?"

"कैसे भी।"—सेनापति ने उत्तर दिया—"शक्ति के द्वारा अथवा मित्रता के द्वारा।"

यह सुनना था कि स्पेरी समय और परिस्थिति को भूल कर चिल्ला उठा—"सम्भव है, आप शक्ति द्वारा नगर में प्रवेश कर सकें, परन्तु यह निश्चित है कि मित्रता द्वारा आप कभी ऐसा नहीं कर सकते।"

परिणाम यह हुआ कि सन्धि-वार्ता भंग हो गई और युद्ध-के नगाड़ों से एक बार फिर वातावरण गूंज उठा। इस बार नाग-

रिक सेना मौत को गवाह बना कर लड़ी। उसने आस्ट्रिया की सेना के छक्के छुड़ा दिये और उसके सेनापति को बुरी तरह घायल कर डाला। घाव इतने गहरे और गम्भीर थे कि तरह-तरह की चिकित्सा करने पर भी उनके जीवन का दीप मन्द होता चला गया। अन्त में उन्होंने वकील को बुला भेजा। उसका अर्थ स्पष्ट था—उन्हें जीवन की आशा नहीं थी।

और हुआ भी यही। सेनापति चल बसे। वे वीर थे, मृत्यु का स्वागत उन्होंने हँसकर किया। अन्तिम क्रिया के बाद लोगों ने उनकी वसीयत निकाली। पढ़ी तो वे सब अचरज से पागल हो उठे। सेनापति ने लिखा था - मैं अपनी सब सम्पत्ति ब्रेसिया के नागरिकों की भेंट करता हूँ। वे साहस और आत्मसम्मान के पुतले हैं।

: १७ :

सेवा-भाव

एक दिन मेरठ में किसी ने सुना—बम्बई से गिल्टी निकला आदमी आया है।

बस दूसरे दिन से शहर में शैतान नाचने लगा। ऐसा लगता था मानो ढाऊसाहब ने (तब प्लेग का यही नाम चल पड़ा था) मनुष्य का नाम मिटाने का प्रण कर लिया है। लोग घर छोड़-छोड़कर भागने लगे। माँ को बेटे की, पत्नी को पति की और पुत्र को पिता की चिन्ता नहीं रही। नगर में भूतों का डेरा लग गया। कभी-कभी तो अंत्येष्टि करनेवाले भी नहीं मिलते थे।

इन्हीं दिनों बेंकर स्ट्रीट के मुन्शीजी के घर पर ढाऊसाहब का आक्रमण हुआ। एक दिन घर के नौकर ने आकर कहा कि उसे बुखार चढ़ आया है। यह ढाऊसाहब की चेतावनी थी। सुनकर मुन्शीजी ने माथा ठोक लिया। एकदम घर के अन्दर पहुंचे। बेटी को पुकारा—"बेटी, जल्दी करो। तुम्हें अभी बागवाले घर में जाना होगा।"

बेटी का माथा ठनका, पूछा –"क्यों पिताजी ?"

"रामू के गिल्टी निकली है।"

"क्या ?" –बेटी की आखें खुली-की खुली रह गईं।

"जल्दी करो, बेटी ! सब बच्चों को लेकर पीछे के दरवाजे से निकल जाओ। जल्दी करो।"

और वे रामू के पास लौटे। उसके लिए दवा का प्रबन्ध करना था। वह तब बाहर आँगन में पेड़ के नीचे लेटा था और उसकी

कराहट बढ़ती जा रही थी। उन्होंने क्षण भर उसे देखा और फिर बाहर की ओर लपके। हकीम उनको जानता था। दवा में बहुत देर नहीं लगी। लौटे तो बेटी राह देख रही थी। एकदम बोली—"पिताजी, चलो।"

मुन्शीजी ने मानो सुना नहीं। चिल्लाकर कर कहा—"तुम अभी तक यहीं हो? गई नहीं?"

चकित होकर बेटी ने कहा—"कैसे जाती, आप तो थे नहीं।"

"मैं! मैं नहीं जाऊँगा।"

"क्या?"—बेटी कांप उठी—"आप नहीं जायंगे?"

"हाँ बेटी"—शान्त स्वर में मुन्शीजी ने कहा—"जन्म भर रामू ने मेरी सेवा की है! अब जब उसके सिर पर मौत मंडरा रही है, मैं उसे छोड़कर कैसे जा सकता हूं!"

बेटी ने पिता की ओर देखा, फिर बोली, "ठीक है पिताजी! आप यहीं रहिए, बच्चों को छोड़कर मैं अभी आती हूं।"

: १८ :

पश्चात्ताप

भूषण जब प्रिंसिपल के कमरे में आया तब उसके हाथ में तेज़ाब की एक बोतल थी। आगे बढ़कर उसने उस बोतल को मेज पर रख दिया। प्रिंसिपल ने दृष्टि उठाकर पूछा—"क्या है ?"

"तेजाब की बोतल।"

"तेजाब की बोतल ! क्यों, मैंने तुमसे बोतल लाने को कब कहा था ?"

"जी नहीं, आपने नहीं कहा था।"—भूषण ने कुछ सकपकाते हुए कहा।

"तो फिर क्यों लाए हो ?"—प्रिंसिपल ने कौतूहल से पूछा।

"जी"—भूषण ने साहस बटोरकर शीघ्रता से जवाब दिया—"जी, मैं इसे चुराकर ले गया था।"

जैसे बज्रपात हुआ। प्रिंसिपल ने हठात् भूषण को देखा, बोतल को देखा, फिर भूषण को देखा। विश्वास नहीं हुआ। पूछा—"क्या कहते हो ?"

भूषण शान्त हो चुका था। बोला—"जी ! मुझे तेजाब की ज़रूरत थी, इसलिए एक महीना पहले मैं इसे साइन्स-रूम से चुराकर ले गया था।"

प्रिंसिपलसाहब का कौतूहल बढ़ता ही जा रहा था। पूछा—"एक महीना पहले ?"

"जी हाँ।"

"लेकिन अबतक इस्तेमाल नहीं किया ?"

"जी, कर नहीं सका।"

"क्यों ?"

"जी, जब भी करना चाहता था तो दिल कांपने लगता था।"

"फिर क्या होता था ?"

"जी, मैं उसे अलमारी में बन्द करके रख देता था।"

"फिर ?"

"फिर भी, मन को शान्ति नहीं मिलती थी। लगता था, जैसे मैंने कोई बुरा काम किया है।"

प्रिंसिपल ने यंत्रवत कहा—"और शायद इस तरह एक महीना बीत गया ?"

"जी हां, इसी तरह एक महीना बीत गया, लेकिन अब मुझसे रहा नहीं गया। मैं इसे यहां ले आया हूँ।"

"मेरे पास क्यों लाये हो ? वहीं क्यों नहीं रख दिया जहां से ले गए थे ?"

"जी, यह तो एक बार फिर चोरी करना होता।"

प्रिंसिपल का मन जैसे खिल उठा। प्रसन्नता से गद्‌गद् होकर वे बोले—"बहुत अच्छा ! तुमने बहुत अच्छा काम किया है। मैं तुमसे बहुत खुश हूँ।"

और यह कहकर वे फिर अपने काम में लग गए पर भूषण वहीं खड़ा रहा। उन्होंने देखा तो पूछा—"अब ! अब क्या बात है?"

भूषण ने कहा—"मुझे सजा तो मिली नहीं।"

प्रिंसिपल मुस्कराये। बोले—"एक महीने तक तुम पछतावे की आग में जलते रहे हो, वही क्या कम सजा है जो मैं तुम्हें और दूं ?"

यह कहकर वे फिर पहले की तरह अपने काम में लग गए।

: १६ :

सौ रुपए का नोट

एक ठेकेदार काम लेने के लिये एक अफसर के पास पहुँचा। बहुत देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद ठेकेदार ने मतलब की बात शुरू की। साथ ही उसने चुपचाप सौ रुपये का नोट जेब से निकाला और मेज पर रख दिया। अफसर ने नोट को देखा पर उसने उस बारे में एक शब्द भी नहीं कहा, दूसरी बातें करता रहा। कुछ देर बाद बोला—"सिगरेट पियोगे।"

"अवश्य"—ठेकेदार ने जवाब दिया—"मेरे पास है, लीजिये।"

यह कहकर उसने सिगरेट निकाली और फिर दियासलाई जलाकर उठा कि अफसर की सिगरेट जला दे। अफसर ने इसी बीच में नोट को उठाया, उसकी बत्ती बनाई और दियासलाई से जलाकर अपनी सिगरेट सुलगा ली। मानो वह कोई रद्दी काग़ज था। उसी अदा से जिस तरह दियासलाई बुझाते हैं, उसने नोट को बुझाकर नीचे फेंक दिया।

क्षण भर में सौ रुपये का नोट बेकार हो गया। दोनों ने उसे देखा पर जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो, पहिले की तरह बातें करते रहे।

: २० :

वीर माता

नमक-सत्याग्रह के दिनों की बात है। देश में एक तूफान आया हुआ था। लाठी और गोली खाना एक साधारण बात होगई थी। स्त्री और पुरुष, बालक और बूढ़े, सभी निर्भयता की मूर्ति बने हुए थे। एक बार ऐसा हुआ कि एक जलूस के साथ एक छोटी आयु का स्वयंसेवक गिरफ्तार कर लिया गया। वह एक साधारण किसान का बेटा था। औरों की तरह उसे भी छः महीने की सजा हुई। उन दिनों जेल का जीवन आज की तरह आरामदायक नहीं था। राजनैतिक कैदियों के साथ और भी सख्ती की जाती थी। उस लड़के के साथ यही हुआ। उसे कई बार निर्दयता से पीटा गया। वह उस मार को न सह सका। सरकार इस तरह के बन्दियों की टोह में रहती ही थी। किसी तरह बहला-फुसला कर उसने लड़के से माफीनामा लिखवा लिया और उसे छोड़ दिया।

लड़का घर पहुँचा। मां उसे देखकर चकित रह गई। पूछा—"बेटा! तू कैसे आगया? तुझे तो छः मास की सज़ा हुई थी।"

लड़का—"हुई तो थी।"

मां—"फिर।"

लड़का—"मैं छूट आया।"

मां—"पर कैसे बेटा? क्या सरकार ने तुझे छोटा जानकर छोड़ दिया?"

लड़का इन सवालों से घबरा गया और रोने लगा। बोला—"मां! वे मुझे बहुत मारते थे। देख कैसे नील पड़ गए हैं।"

और कहते-कहते उसने अपना कुरता उतार दिया। सचमुच उसकी कमर नीली हो गई थी। हाथ-पैर भी जगह-जगह से उपड़ आये थे पर मां ने उस ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। वह क्रोध से भरकर बोली—"सच बता! क्या तूने माफ़ी मांगी है?"

लड़का—"मां……"

मां—"बोल……"

लड़का—"हां मां!"

मां—"क्या……क्या…तूने माफ़ी मांगी है! तूने माफ़ी मांगी है! (क्रोध) तो फिर… तो फिर तेरे लिए इस घर में कोई जगह नहीं है। जा यहां से……"

लड़का—(रोता हुआ) "मां…मां…"

मां—(क्रोध) "मैं कहती हूं, तू अभी निकल।"

लड़का—(गिड़गिड़ाकर) "मां ग़लती हुई। अब तो माफ़ कर दो। माफ़ करदो मां।

पर मां तो पत्थर की थी। उसी तरह बोली—"माफ़ कर दूं। माफ़ी चाहता है?"

लड़का—"हां, मां! अब फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

माँ—नहीं, "मैं तुझे इस तरह माफ़ नहीं करूँगी। तुझे प्रायश्चित करना होगा। करेगा?"

लड़का—"करूँगा।"

मां—"तू जेल जाएगा।"

लड़का—"जाऊँगा।"

मां—"तो फिर अभी वापिस जेल जा। तुझे वहां मार खानी पड़े, खा लेना। प्राण देने पड़ें, दे देना। पर लौटकर इधर न आना।"

लड़के ने आंसू पोंछ लिए। फिर चुपचाप मां के चरण छूकर चला गया।

: २१ :

सबसे बड़ा शिल्पी

सुलेमान का प्रसिद्ध मन्दिर बनकर तैयार हो चुका था। उसके उपलक्ष में भोज की तैयारियां हो रही थीं। वह भोज मन्दिर का निर्माण करनेवाले सभी कारीगरों और शिल्पियों के सम्मान में दिया जानेवाला था। भोज के लिए जो स्थान चुना गया था वह कारीगरों के अनुरूप सुन्दर और कला पूर्ण था। नीले आसमान के नीचे एक बहुत लम्बा-चौड़ा और खूबसूरत चँदोवा लगाया गया था और महाराज के सिंहासन के दोनों ओर कुमुदिनी तथा दाड़िम से अंकित कांसे के स्तम्भ थे। भोजन के चुनाव में भी सुरुचि, स्वास्थ्य और स्वाद का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया था। सौन्दर्य और कला के प्रतीक मन्दिर की भांति वह भोज भी सुलेमान के वैभव का प्रतीक था।

लगभग सभी अतिथि आचुके थे और वातावरण मौन गूंज से गूंज रहा था। सभी प्रसन्न थे और एक दूसरे का दिल से स्वागत कर रहे थे; परन्तु इस हर्ष और आनन्द के बीच उनकी दृष्टि रह-रह कर एक खास दिशा की ओर उठ जाती थी। महाराज की दाहिनी ओर एक स्थान अभी खाली था। वह सबसे बड़े कलाकार के लिए सुरक्षित था। वे लोग रह-रह कर फुस-फुसा उठते थे और उस फुसफुसाहट का अर्थ था—इस स्थान पर कौन भाग्यशाली बैठेगा ?

बेजान पत्थरों में दिव्यदूतों को अंकित करनेवाला संगतराश सोचने लगा—"क्या मैं ही इस पद का अधिकारी नहीं हूँ ?"

"यह स्थान शायद मेरे लिए सुरक्षित है।" सोने की छत बनाने वाले ने मन-ही-मन कहा।

इसी प्रकार सुन्दर दीवारों का निर्माण करनेवाला और वह जिसने देवदार के आभूषण बनाये थे और सब दूसरे शिल्पी अपने अपने को सबसे बड़ा शिल्पी मानने लगे।

और भोज का क्रम चलता रहा।

सहसा द्वार पर आहट हुई।

"कौन है ?"–सुलेमान ने पूछा।

उत्तर में एक अजीबोग़रीब और भद्दे से आदमी ने वहां प्रवेश किया। सभी की दृष्टि उसकी ओर उठी और दूसरे ही क्षण तिरस्कार की भावना से झुक गई। त्यौरियां चढ़ाकर महाराज ने पूछा–"तुम कौन हो ?"

आगन्तुक ने उत्तर दिया–"श्रीमान् ! मैंने सुना है कि आप सब से बड़े शिल्पी की खोज में हैं। मैं उसीके बारे में आया हूँ।"

सभा पर जैसे वज्रपात हुआ। दृष्टियां फिर उठीं। उनमें कौतूहल था, विस्मय था, तिरस्कार था और था भस्म करने वाला क्रोध। पवित्र देवदूतों को जिसने अंकित किया था, सबसे पहले वही घृणा से भरकर बोला–"मैं इसे नहीं जानता।"

"और मैं भी नहीं"-सोने की छत बनानेवाले ने उसी तेज घृणा से कहा।

"मैं भी नहीं।"–सुन्दर दीवारों का निर्माण करनेवाला और भी तेजी से चिल्लाया।

देवदार के आभूषण बनानेवाला भी नहीं चूका। उसने भी चिल्लाकर कहा–"नहीं, मैं भी नहीं।"

फिर तो एक के बाद एक, एक से बढ़कर एक तेज और घृणा भरे स्वर चीख उठे–"नहीं, हम इसे नहीं जानते।"

महाराज क्रोध से कांप उठे। बोले–"मैं पूछता हूँ, तुम्हें

पत्थरों और कोड़ों से क्यों न मार डाला जाय ?"

वह विचित्र व्यक्ति इन बातों से जरा भी विचलित नहीं हुआ। महाराज का प्रश्न सुनकर वह उसी विश्वास के साथ आगे बढ़ा और बोला—"यहाँ पर सभी प्रसिद्ध कारीगर और शिल्पी उपस्थित हैं। मैं उनसे एक बात पूछना चाहता हूँ।"

क्षणिक सन्नाटे के बाद महाराज ने कहा—"पूछो, क्या पूछना चाहते हो ?"

"मैं पूछना चाहता हूँ, आपके इन शिल्पियों के वे औजार, जिनसे इन्होंने इस भवन का निर्माण किया है, किसने बनाये थे ?"

"किसने बनाये थे ?" कई शिल्पी एक साथ बोल उठे—"वाह, वह तो लुहार है।"

आगन्तुक उसी शान्ति से बोला—"तो मैं वही लुहार हूँ। यदि मैं अपनी धुएं से भरी हुई भट्टी के पास बैठकर मेहनत न करता तो आप लोग सौन्दर्य और कला को कैसे रूप दे सकते !"

दृष्टियां फिर उठीं, पर इसबार उनसें न विस्मय था, न क्रोध और न तिरस्कार। उनमें थी पराजय और थी उसकी महानता की मूकस्वीकृति।

सुलेमान ने क्षण भर विस्मय और हर्ष से आगन्तुक को देखा और फिर गुरु गम्भीर स्वर में कहा—"आओ, और मेरे दाहिने ओर इस खाली जगह पर बैठ जाओ।"

[एक हिब्रू-गाथा]

: २२ :

ऋणी

मिश्रजी के मेहमान सन्ध्या की गाड़ी से जानेवाले थे और उन्हें दो रुपये की ज़रूरत थी। संयोग की बात उस दिन उनकी जेब खाली थी। इधर-उधर से मांगे, कई मित्रों को टटोला पर कोई फल नहीं। अब हो तो कैसे हो ? घर में दो रुपये नहीं, मेहमान क्या कहेगा ?

वे इसी चिन्ता में थे कि एक देहाती ने आकर कहा—"मैं पण्डित कन्हैयालाल के दर्शन करना चाहता हूं।"

मिश्रजी चौंके, बोले—"जी कहिये ! क्या आज्ञा है ?"

देहाती—"तुम कन्हैयालाल हो ?"

मिश्रजी—"जी !"

देहाती—"पं० रामदत्त के लड़के ?"

मिश्रजी—"जी हा ! मैं उन्हींका पुत्र हूं। कहिए क्या बात है ? क्या आप उन्हें जानते थे ?"

आगन्तुक के चेहरे का रङ्ग कुछ पलटा। रेखाएं ढीली पड़ी, आँखें कुछ गीली हुईं। रुंधे कण्ठ से कहा—"हां बेटा! मैं उन्हें जानता था। वे देवता थे।"

समस्या सुलझने के स्थान पर और उलझ गई। मिश्रजी ने वृद्ध को आदर से अपने पास बैठाया। क्षण भर के लिए वे रुपयों की बात भूल गए पर यह क्या—वे वृद्ध तो गांठ में से रुपये निकाल रहे हैं। देखा—पाँच रुपये हैं। वृद्ध ने वे रुपये मिश्रजी के आगे रख दिये।

मिश्रजी के नेत्र चमक उठे पर उन्होंने संयत स्वर में पूछा—"ये रुपये कैसे हैं ?"

रुँधी वाणी में वृद्ध ने कहा—"कोई १६-२० साल की बात है। सोमती-मावस पर मैं हरद्वार जा रहा था। तुम्हारे पिताजी भी थे। रेल में उनसे बातचीत हुई। बड़े भले आदमी थे। अब उन जैसे देवता कहाँ ? उनके दर्शन करने तुम्हारे घर देवबन्द गया था। वहीं पता लगा कि वे तो राम को प्यारे हुए। तब यहाँ आया हूं। सो भाई उस यात्रा में किसीने मेरा बटुवा काट लिया। तुम जानों उठाई-गिरे ऐसे ही दिनों की ताक में रहते हैं। बटुआ क्या कटा मेरा तो जी कट गया। अब कैसे टिकट लूंगा पर तुम्हारे पिताजी ने मुझे तसल्ली दी और पांच रुपये दिये। वे रुपये मैं हर साल लौटाने की सोचता था पर बानक ही नहीं बनता था। अब बना तो आया हूं। पर उनके दर्शन नहीं कर सका।"

मिश्रजी कथा सुन रहे थे और सोच रहे थे—धरती जो रसातल को नहीं जाती सो इन्हीं लोगों के कारण। कैसे दयानतदारी को जकड़े फिरते हैं।

अपनी बात कह कर वृद्ध ने लकड़ी उठाई और कहा—"अच्छा भाई, चलता हूँ।"

तब मिश्रजी को होश आया। लपक-कर उस देहाती वृद्ध के पैर छू लिए। वृद्ध सकुचा गया और क्षमा मांगता हुआ चला गया। मिश्रजी तो इतने खो गए थे कि उनका नाम-धाम पूछना भी भूल गए।

: २३ :

सहानुभूति

लुई माइकेल चार वर्ष बाद जेल से छूटी तो सीधी अराजक-वादियों की एक सभा में पहुंची। वहां एक मनुष्य ने जो शराब में गच्च हो रहा था, उन पर गोली चला दी। भाग्य से वे तो बच गईं, पर उनका एक कान बुरी तरह कट-फट गया।

वह आदमी पकड़ा गया और शासकों ने उस पर हत्या करने का अभियोग चलाया। जिस दिन न्यायालय में उसकी पहली पेशी हुई तो जनता ने चकित होकर देखा—शराबी की पैरवी करनेवाली स्वयं लुई माइकेल है। उसके कान पर पट्टी बंधी हुई है, परन्तु उसके मुख पर सदा रहनेवाली प्रफुल्लता है। उसका स्वर दृढ़ है और वह एक दक्ष वकील की भांति कह रही है-"श्रीमान्! मैं जानती हूँ, इस व्यक्ति ने मुझ पर हमला किया है···।"

न्यायाधीश ने टोका-"बेशक इसी अपराध के लिए इस पर अभियोग चलाया गया है।"

"सुनिये तो!"-लुई बोली-"मैं कहना चाहती हूं कि वह व्यक्ति अपराधी होकर भी दुष्ट नहीं है।"

"तो क्या है?" न्यायाधीश ने व्यंग से पूछा।

"निर्बल।"

"निर्बलता स्वयं एक अपराध है।"

"बेशक है"-तुरन्त उत्तर आया-"परन्तु वह सजा देने से दूर नहीं हो सकती।"

"तो किससे हो सकती है?" न्यायाधीश कुछ सकपकाये।

"सहानुभूति से।"

और यह कहकर वह अपने डाक्टर की ओर मुड़ी, बोली—"डाक्टर! मैं एक योद्धा हूँ, कृपाकर न्यायाधीश से कह दीजिये कि मुझे गहरी चोट नहीं लगी है, थोड़ी-सी खुरसट आगई है।"

: २४ :

कर्त्तव्य-निष्ठा

अचानक आधी रात के समय कुछ लोगों ने विलियम कार्ट-राइट की मिल पर धावा बोल दिया। यह मशीन-युग के शुरू की बात है। उस काल में ऐसी घटनाएं अक्सर होती रहती थीं। मशीन ने शरीर-श्रम की जीविका छीन ली थी। यह धावा भी इसी कारण हुआ था। धावा करनेवाले भयानक शस्त्रों से सज्जित थे। उधर मिलवाले भी असावधान नहीं थे। उन्होंने ढेले का जवाब पत्थर से दिया। दोनों ओर से अनेक व्यक्ति घायल हुए।

धावा बोलनेवालों में बूथ नाम का एक युवक था। उसकी आयु केवल उन्नीस वर्ष की थी। इस हमले में उसकी एक टाँग टूट गई। वह भाग नहीं सका और मिलवालों के हाथ पड़ गया। उसे अस्पताल ले जाया गया। वहाँ उसके पास सदा एक पादरी बैठा रहता था। मिल-मालिकों को आशा थी कि वह पादरी को अपने दूसरे साथियों के नाम बता देगा। वे उन सब पर मुकदमा चलाना चाहते थे।

बूथ इस बात को जानता था। एक दिन जब प्रभात की किरणें फूट रहीं थीं, उसने पादरी को अपने पास आने का संकेत किया। पादरी की आशा जागी। उसने बहुत ही प्यार से पूछा—"कहो बेटे, क्या बात है ?"

बूथ ने धीमे पर दृढ़ स्वर में कहा, "अगर कोई आपको अपना रहस्य बताए तो क्या आप उसे गुप्त रख सकते हैं ?"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं !"—पादरी ने बेहद प्रसन्न होकर जवाब दिया—"मैं विश्वासघात को सबसे बड़ा पाप मानता हूँ, मेरे बच्चे !"

बूथ के मुख पर प्रकाश की रेखाएं चमक उठीं। उसने मुस्करा कर शान्ति से कहा—"और मैं भी यही मानता हूं।"

और इसके कुछ क्षण बाद ही, उस रहस्य को अपनी छाती में छिपाये हुए, उसने आखिरी सांस खींची।

: २५ :

बड़ा दिल

पं० रामादत्त का छोटा बेटा नहर में डूब कर मर गया। लोग इस सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें करते थे। पंडितजी जानते थे कि सत्य क्या है ? सारी शरारत उनके एक सम्बन्धी की थी। कम्बख्त ने बच्चे को बहकाकर नहर में डुबो दिया था। सात परदों में छिपाने पर भी बात कभी छिपी नहीं रहती। किसी कान के कच्चे को उसका पता लग गया फिर तो वह सार्वजनिक सम्पत्ति बन गई। पुलिस ने पंडितजी से पूछा—"आपको किसी पर शक है ?"

पंडितजी—"शक किस पर होता, दारोगाजी ! नहाने घुसा था, पैर रपट गया।"

दारोगा—"पर सुना है..."

पंडितजी—(बात काटकर)—"सुनने को तो बहुत सी बातें हैं, दारोगाजी।"

दारोगा—"तो लिख दूं, हादसा हो गया।"

पंडितजी—"हाँ, दारोगाजी ! यह मेरे भाग का हादसा है।"

दारोगाजी चले गए। जब बेटे का बाप ही ऐसा कहे तो पुलिस क्या करे। चुप होगई। उसके पास कोई प्रमाण नहीं था और कानून प्रमाण के अभाव में बेकार है। लेकिन मां तो मां है। वहां भावना प्रमाण से ऊपर है। उसके हृदय में पहले ही आग जल रही थी। जब उसने यह कथा सुनी तो भभक उठी। सीधे पति के पास जाकर बोली—"तुमने उसे छुड़वा दिया।"

पंडितजी—"और क्या करता ?"

पंडितानीजी—"और क्या करते ? उसे फांसी पर चढ़वाते। उसने मेरा घर उजाड़ा है। उसने…"

आगे क्रोध से फुंकारती हुई वह माँ आग के आंसू बहाने लगी। परन्तु पं० रामादत्त उसी तरह शान्त रहे, बोले—"तू नहीं जानती, पगली। मैं कुछ कहता तो वह बंध जाता।"

पंडितानीजी—"यही तो मैं चाहती थी।"

पंडितजी—"क्यों ?"

पंडितानीजी—"मेरी छाती ठण्डी होती।"

पंडितजी—"पगली ! अब तो एक घर में आग लगी है तब दो में लग जाती। उससे क्या लाभ होता।"

: २६ :

किसका बेटा

वह कश्मीर की राष्ट्रीय-सभा का एक सिपाही था और उसके सुन्दर देश पर लुटेरों ने हमला बोला था। वे उसकी आजादी, दौलत और अस्मत को पैरों तले रौंद रहे थे। तब वह कैसे चुप रहता ? वह केशर, रेशम, सेब और चिनार के देश को, जिसकी हिम से सजी चोटियों पर अमरनाथ (शिव) का निवास है, बचाने के लिए उठ खड़ा हुआ। उसकी सभा ने देश के हर नवयुवक को दुश्मन से टक्कर लेने की दावत दी। वह अपने काम में जुट गया। भयभीत लोगों में उसने साहस भरना शुरू किया। उसने उन्हें विश्वास दिलाया कि हम दुश्मन को मार भगाएँगे। भारत हमारी सहायता के लिए आ रहा है।

उसका कहना ठीक था। भारत की सेना उसके प्यारे देश की रक्षा के लिए ठीक उसी समय वहाँ पहुँची जिस समय दुश्मन नगर के दरवाजे पर गोले बरसा रहा था। एक भगदड़ मची हुई थी। दोस्त दुश्मन का कोई पता नहीं था। ऐसी अराजकता में वह भारतीय सेना की गोली का शिकार हो गया। यह एक बहुत ही दुखदाई घटना थी पर उसे किसीने जान-बूझ कर नहीं मारा था। इसके लिए किसीको दोष देना कठिन था।

राष्ट्रीय-सभा के विरोधियों को इस घटना का पता लगा। उन्हें जैसे वरदान मिला। वे उसकी लाश को लेकर उसकी माँ के पास पहुँचे। खबर मिलते ही माँ दौड़ी हुई आई और बेटे की लाश को देखकर शोक से पागल-सी हो गई।

लानेवाले ने कहा—"जिन्हें तुम अपना दोस्त कहते हो, जिनके दामन में तुमने अपना सिर छिपाया है उन्हीं हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने तुम्हारे बेटे को मारा है:—

माँ हतभागिनी-सी देख रही थी। वह रोना भी भूल गई थी। लानेवाला कहे जा रहा था—"और वे जो तुम्हें बचाने आए हैं उन्हें तुम दुश्मन कहते हो। वे..."

न जाने क्या हुआ। बीच में टोककर मृत-सिपाही की माँ ने कहा—"तुम इसे यहां क्यों लाए हो ?"

लानेवाला—"क्योंकि यह तुम्हारा बेटा है।"

माँ—"नहीं, यह मेरा बेटा नहीं है।"

लानेवाला—"क्या ?"

माँ—"हाँ, मैं इसे राष्ट्रीय-सभा को दे चुकी हूँ। अब यह उनका है।"

लानेवाला—"लेकिन..."

माँ—"लेकिन वेकिन कुछ नहीं। इसे वहीं ले जाओ। जीते जी जिनका था मरकर भी उनका ही रहेगा।"

: २७ :

अपनी-अपनी समझ

लन्दन दुनिया का सबसे बड़ा नगर है। उसकी सड़कों पर भीड़ रहना स्वाभाविक है। इसी कारण पैदल चलनेवाले बड़ी कठिनता से सड़क पार कर पाते हैं। एक दिन ऐसा हुआ कि एक धनी नारी, बहुमूल्य पोशाक पहने जल्दी-जल्दी पगडण्डी से सड़क की ओर बढ़ी। वह सड़क पार करना चाहती थी और जिस गति से वह बढ़ रही थी उसमें उसे रुकने का तनिक भी अवकाश नहीं था। जैसे ही वह लपकी वैसे ही एक बस तेजी से उधर आई। बिजली-सी कौंध गई। सबको लगा—वह धनी नारी पिसकर चूरा होगई है।

यह सब पलक मारते ही हो गया। अनेक दृष्टियाँ एक साथ उस नारी को देखने को उठीं। उस समय वह नारी पगडण्डी पर खड़ी हुई एक मज़दूर को डपट रही थी।

बात यह थी कि जैसे ही वह नारी सड़क पार करने को लपकी तैसे ही उस मजदूर ने आनन-फानन में उसकी पोशाक पकड़ कर खींच ली। नारी बस के नीचे आने से रह गई परन्तु उसकी बहुमूल्य पोशाक फट गई। बस इसीलिए वह क्रोध से पागल होकर मज़दूर को डपटने लगी—"कमबख्त ! तू जानता है कि तूने क्या किया है ? तुझे पता है कि मैं कहाँ जा रही थी ? तूने मेरी पोशाक नष्ट कर दी। तू अन्धा है। देखकर नहीं चलता।"

मजदूर ने सब कुछ शान्ति से सुना फिर उसी शान्ति से कहा—"धन्यवाद श्रीमती।"

और वह आगे बढ़ गया पर यह क्या ? यह कौन उसके हाथ को टटोल रहा है। वह शीघ्रता से मुड़ा। उसने अपना हाथ खोला, देखा—उसकी हथेली पर हाफ-क्राउन ❀ है।

उसी समय एक व्यक्ति तेजी से भीड़ में बढ़ा चला जा रहा था।

❀ एक अंग्रेजी सिक्का।

: २८ :

सहिष्णुता

भदन्त आनन्द कोसल्यायन बौद्ध भिक्षु हैं। भिक्षु होते हैं प्रवासी। ज्ञान का खोजी कहीं एक स्थान पर चिपटकर नहीं रह सकता है ? उसको धरती के चारों कोनों पर जाना पड़ता है। आनन्दजी भी उसी जाति के थे। घूमते-घूमते एक बार वे साँची जा पहुँचे। वहाँ बहुत पुराने बुद्ध-स्तूप हैं। भारत का राज्य-चिन्ह अशोक-चक्र वही है। भिक्षु आनन्द घूम-घूम कर बहुत देर तक उन खण्डहरों को देखते और उनकी आवाज सुनते रहे। वहाँ के अधिकारी ने उन्हें एक तो साधु और फिर पढ़ा लिखा साधु समझकर कहा–"आप आये हैं तो साहब से मिलते जाइये।"

भिक्षु–"कौन साहब ?"

अधिकारी–"यहां के अध्यक्ष घोषाल महोदय।"

भिक्षु उनसे मिले। वे अचकन पाजामा-धारी बंगाली सज्जन थे। बातचीत के उपरान्त उन्होंने भिक्षु को भोजन का निमंत्रण दिया। दोनों घर आये। घोषाल महोदय की बूढ़ी मां ने बड़ी श्रद्धा और बड़े स्नेह से उनका स्वागत किया। भोजन तैयार था। उन्होंने थाली परसकर पुत्र के लिए बैठक में भिजवा दी और भिक्षु के लिए वहीं अपने साथ चौके में रख ली।

यह बात भिक्षु की समझ में नहीं आई, पूछा–"क्यों माताजी, घोषालबाबू क्या यहाँ भोजन नहीं करेंगे ?"

माँ—"वह यहां कैसे खा सकता है।"

भिक्षु–"क्यों ! ऐसी क्या बात है ?"

माँ–"बात क्या होती, स्वामीजी ! मेरा बेटा ईसाई है।"

और इससे पहले भिक्षु इस अचरज को समझ सके, माँ ने कहा–"जल्दी भोजन कर लो, स्वामीजी हमें बोबाल के गिरजे चलना है।"

भिक्षु–"क्यों ?"

माँ–"आज उसका बड़ा पादरी आया है। उनका उपदेश सुनना है।"

भिक्षु खाना खाते जाते थे और सोचते जाते थे कि वे इस दुनिया में हैं या स्वप्नलोक में।

: २६ :

सेवा

एक कोढ़ियों का द्वीप था। उनके अतिरिक्त वहां और कोई नहीं रहता था। रोग और दुर्गन्ध उनके साथी थे। पीड़ा उनकी परिचारिका थी और मौत उनकी डाक्टर। उन्हींके बीच में वे अपने दिन पूरे करते थे। जंगली जातियों में काम करनेवाले एक पादरी ने इस दुर्दशा को देखा और वह वहां जाकर उनकी सेवा करने को तैयार हो गया।

और वह गया। वह उनके घावों की पीप धोता था। वह उनके लिए मकान बनाता था। उनको धर्म-पुस्तकों का पाठ सुनाता था। वह उनका स्नेही-सम्बन्धी, डाक्टर, धर्म-गुरु, रसोईया, बढ़ई और सेवक सब कुछ था। वह वहाँ एक दो दिन के लिए नहीं बल्कि मृत्यु के आने तक के लिए गया था।

इसी प्रकार सोलह वर्ष बीत गये। तभी एक दिन अचानक उसके पैरों पर उबलता पानी गिर पड़ा। वह काँपा पर उसके पैर पर पानी का कुछ असर नहीं हुआ। यह जानकर वह प्रसन्नता से भर उठा। उसने फिर पानी डाला। कई बार डाला पर कोई असर नहीं हुआ। अब उसे कोई सन्देह नहीं रहा। वह अब उनका सच्चा साथी बन चुका था। उसने सच्ची खुशी से भरकर कहा—"मुझे भी कोढ़ हो गया है।"

डाक्टर को पता लगा तो वे भागे हुए आए। उन्होंने पादरी के पैरों की परीक्षा की। फिर कहा—"आप अभी चले जाइए।"

पादरी—"कहाँ ?"

डाक्टर—"अपने घर।"

पादरी—"क्यों ?"

डाक्टर—"आपको कोढ़ का रोग लग गया है।"

पादरी हंसा—"यही तो मैं चाहता था !"

डाक्टर चकित-सा बोला—"क्यों ?"

पादरी—"क्योंकि अब मैं उनकी पीड़ा को ठीक-ठीक समझ सकूंगा। अब मैं उनका अपना हो गया हूँ। सच पूछो तो उनकी सेवा के योग्य मैं अभी हुआ हूँ।"

: ३० :

पत्थर

सुलोच के बाल कट गये। नाई ने कहा–"पैसे दो।"

सुलोच ने ताऊजी से कहा–"नाई पैसे मांगता है।"

ताऊजी ने कहा–"जा अपनी माँ से ले आ।"

सुलोच–"तुम दो! तुम्हारे पास हैं। तुमने अपने भी तो दिये हैं।"

पर ताऊजी नहीं माने। सुलोच मां के पास गई, बोली–"मा मैंने बाल कटवाए हैं, पैसे दो।"

माँ मुस्कराकर बोली–"किसके साथ गई थी?"

सुलोच–"ताऊजी के।"

माँ–"तो उन्होंने पैसे नहीं दिये।"

सुलोच–"नहीं।"

माँ–"क्यों।"

सुलोच "कहते हैं तेरी माँ देगी।"

माँ की त्यौरियां चढ़ गई। बोली–"उनके पैसे किसने दिये हैं?"

सुलोच–"उन्होंने ही दिये हैं।"

माँ के आग लग गई। उसने सुलोच को तो पैसे दे दिये पर सन्ध्या को जब सुलोच के पिता घर लौटे तो उन्हें सारी कहानी सुनाई और आग बबूला होकर बोली–"इस बात का क्या मतलब होता है। एक बच्ची के बाल कटवाने के पैसे नहीं दे सके। हम उनके लिए इतना करते हैं।"

पिता ने लापरवाही से कहा–"तो क्या हो गया?"

माँ–"कुछ नहीं हुआ ! उन्होंने अपने पैसे दिये और सुलोच को मेरे पास भेज दिया। क्या वे हजामत के पैसे नहीं दे सकते थे ?"

पिता–"दे सकते होंगे पर उससे क्या ?"

माँ–"है क्यों नहीं·····"

पिता (एकदम)–"मैं कहता हूं अब खत्म भी करो।"

माँ–"खत्म क्या करना था। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता। उन्हें सोचना चाहिए। वे ऐसी दुभात क्यों करते हैं। वे हमारे बच्चों को पराया समझते हैं।"

पिता ने बड़े आराम से करवट बदली–"अच्छी बात है। कहे जाओ, मैं सुन रहा हूँ।"

माँ उबल पड़ी, बोली–"सुन क्या रहे हो ? तुम्हीं ने सबको बिगाड़ा है। दुनिया भर के लिए मरते फिरते हो। रात देखते हो न दिन। अपना ध्यान नहीं रखते पर दूसरे क्या हैं यह भी तो तुम्हें देखना चाहिए। यह एक मिसाल हैं। आज तो सब लायक हो। कल को कुछ होगया तो कोई भी पास न फटकेगा।

और वह बहुत देर तक इसीप्रकार बकझक करती रही। जब काफी देर हो गई तो सुलोच के पिता ने गरदन उठा कर कहा–'अब कह चुकी न।"

माँ–"कह क्या चुकी मेरे आग लग रही है।"

पिता–"वह तो बुझ जायगी पर सुनो मैं मानता हूँ कि भाई-साहब ने बुरा किया···।"

माँ—"बुरा क्या बहुत बुरा किया।"

पिता–बेशक बहुत बुरा किया; परन्तु अब क्या तुम मुझसे यह चाहती हो कि मैं उनसे जाकर लड़ूं और उनसे भी बुरा काम करुं।

माँ एक बार तो ठगी-सी रह गई पर फिर धीरे से बोली–"तुम तो पत्थर हो। तुमसे कोई क्या कहे ?"

: ३१ :

शान्ति की राह

वे सब लोग हवाई जहाज में बैठकर आये थे और सुन्दर-से-सुन्दर होटलों में उनके रहने का प्रबन्ध किया गया था। वे इस देश के अतिथि थे और शान्ति की राह खोज लेना चाहते थे। उनमें सभी विद्वान् थे, चिंतक थे, साधक थे। उनमें शासक-वर्ग के लोग थे, शासित-श्रेणी के मनुष्य थे। उनमें वृद्ध थे, प्रौढ़ थे, युवक थे। उनमें नर थे और नारियाँ थीं। वस्तुतः उनमें नाना वर्ण, नाना राष्ट्र और नाना जातियों के व्यक्ति थे और वे सब शांति के उपासक थे। बेशक उनकी राह अलग अलग थी पर वे सब युद्ध से ऊब उठे थे और रोज-रोज का संघर्ष उन्हें पीड़ा देता था।

उनमें एक युवक था। वह विश्व के सुदूर उत्तर के देश स्वीडन से चलकर आया था। वह कभी चित्रकार था, परन्तु आज तो उसका पेशा बागबानी था, क्योंकि वह युद्ध का विरोधी था और उसका देश उसकी कला का उपयोग युद्ध में करना चाहता था। इसलिए उसने चित्रकारी को अन्तिम प्रणाम करके बागबानी को अपना लिया था। उसे अब कोई युद्ध में सहयोग देने को नहीं कह सकता था।

औरों की तरह उसका भी स्वागत हुआ। उसे बम्बई के ताज-महल होटल में, जहाँ लक्ष्मी वैभव लुटाती है और ऐश्वर्य अंगड़ाई लेता है, ले जाया गया। उसे देखकर उस पुराने चित्रकार का मन चकित रह गया। वह खुली आँखों से बहुत देर तक उस वैभव को

ताकता रहा। उसने सोचा—"क्या यही भारत है ? क्या यहीं रहकर वह शांति-दूत (गांधीजी) शांति,युद्ध का संचालन करता था ?"

"नहीं—नहीं !" वह कई क्षण इसी भूलभुलैया में उतरता हुआ बोल उठा,-"नहीं, यह भारत नहीं है। मैं भारत देखने आया हूँ, सच्चा भारत ! गांधी का भारत।"

और यह कहकर वह रुका नहीं। अपना बैग उठाकर वह वहाँ से बहुत दूर चला गया। बहुत दूर वहाँ, जहाँ भारत की मेहनतकश जनता रहती है। उन्हीं के साथ वह ठहरा। उन्होंने गद्‌गद् होकर उसके लिए स्थान खाली किया; लेकिन वह बोला-"मुझे केवल उतनी जगह चाहिए जितनी में एक मनुष्य रह सकता है !"

वे उसके लिए विशेष खाने का प्रवन्ध करने चले, पर उसने कहा—"मैं वही खाऊँगा, जो तुम खाते हो और तुम्हारे साथ काम करके खाऊँगा। वैसे नहीं। मैं भारत की आत्मा को देखना चाहता हूँ, भारत की शान को नहीं।"

भारत की मेहनतकश जनता तब अपने जैसे उस अनोखे विदेशी को देख कर आनन्द से पुलकित हो उठी।

: ३२ :

निर्भयता

अंधेरी रात थी और उनका जहाज समुद्र की तूफानी लहरों से टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। चारों ओर भय और मौत का चीत्कार उठ रहा था। कुछ लोगों को लहरें निगल चुकी थी और जो कुछ तैरना जानते थे वे उनसे लड़ते हुए किनारे की ओर बढ़ रहे थे। कुछ अभी तक जहाज के टूटे हुए टुकड़ों से चिपके हुए थे। उन्हें आशा थी कि शायद बचाने वाले अब भी आ सकते हैं।

तभी एक साहसी तैराक ने जो किनारे की ओर बढ़ रहा था, सुना—जैसे कहीं से स्वर्गीय संगीत का स्वर आकर वहाँ फैल गया है। वह ठिठका—कौन गाता है? क्या हमें बचाने के लिए स्वर्ग से देवता उतर आए हैं।

उसने दृष्टि उठाई। पास ही एक बेड़े पर कुछ नारियाँ चिपकी हुई थीं। बेड़ा मौत के झूले में झूल रहा था। किसी भी क्षण लहरें उसे निगल सकती थीं लेकिन वहीं से वह मधुर संगीत उठ रहा था। वह तैराक उस बेड़े के और पास आया। अब उसने स्पष्ट देखा—उन्हीं नारियों में से एक नारी के ओंठ हिल रहे हैं। वह तन्मय होकर गा रही है। उसके स्वर में एक अनोखी मिठास है, एक अजीब मस्ती है और वह परम शान्त है, इतनी शान्त जितनी कि किसी आनन्द-भवन की गोष्ठी में हो सकती है।

तब मौत की गोद में लेटा हुआ वह तैराक आनन्द से भर कर मुस्करा उठा।

: ३३ :

तर्क का बोझ

नंगे पैर, सिर पर बिक्री के सामान का थाल रखे वह रोता हुआ चला आरहा था। उसका रंग कुछ काला था, मुख कुछ सूजा और भद्दा, आंखे कीच से भरी हुई, आवाज मोटी। उसने कुरता और जांघिया-नुमा निकर पहना था। वह बार-बार कुरते की बांह से आंसू पोंछ लेता था, पर आंसू थे कि रुकते ही नहीं थे। और हां, उसके हाथ में एक कमची भी थी जिससे शायद वह थाल की मक्खियां उड़ाया करता था। पर उस समय तो वह सबकुछ भूल कर जोर-जोर से रो रहा था।

यह एक स्वाभाविक बात थी कि इसके रोने ने लोगों का ध्यान उसकी ओर खिंचा। मेरा भी खिंचा, मैंने आवाज देकर उसे अपने पास बुलाया। वह एक खोमचा लगाने वाला लड़का था। उसके थाल में कटे हुए कागजों के अतिरिक्त एक बरतन में कुछ नमकीन सेव, दूसरे में कुछ मीठी पपड़ी तथा एक ओर शायद गुड़ में पगे सेव रखे थे। इलायचीदाना भी था। एक कटोरदान में कुछ खुले पैसे और उसीके ऊपर छोटी तराजू रखी थी।

वह पास आया तो मैंने पूछा—"क्यों रोता है रे?"

उसने सुबकते हुए जवाब दिया, "मेरे पैसे निकाल लिये!"

"किसने?"

"पता नहीं।"

"कहां रखे थे?"

"थाल में।"

आगे की बातों से पता लगा कि दिनभर घूम-घूम कर उसने लगभग दो रुपये का सामान बेचा था। उसमें से एक रुपया दस आने बांध कर उसने अलग रख लिये थे। उस बंधी हुई पुड़िया को किसी राह चलते ने थाल में से उचक लिया था। वह बालक था और कोई भी राहगीर उसके थाल में से कुछ भी उठा सकता था।

यही सारी कथा उसने रोते-रोते कह सुनाई और कह कर वह दुगुने वेग से रोने लगा। सुनने के बाद हममें से कुछ लोगों ने कंधे उचकाकर दोनों हाथ हिलाये और चले गए। एक राहगीर ने तेजी से नवयुग की नई सभ्यता को कोसना शुरू कर दिया। करुणा के बावजूद मेरे मन में पहली प्रतिक्रिया अच्छी नहीं हुई। सोचा यह लड़का धूर्त जान पड़ता है। पैसे कहीं रख आया है और अब झूठमूठ लोगों की करुणा का अनुचित लाभ उठाना चाहता है। नई दिल्ली में ऐसे कई लड़के घूमा करते हैं। एक लड़का शाम को अखबार बेचा करता है और रोज फटी जेब दिखा कर रोता हुआ कहता है, मेरी जेब फट गई, पैसे गिर गए, अब मालिक को क्या दूंगा?"

और तब सड़क पर चलने वाले सैकड़ों व्यक्तियों में से कोई-न कोई ऐसा निकल ही आता है जो उस बालक के करुण विलाप से पिघल जाता है और उसे छः आने पैसे दे देता है।

"तो क्या यह भी उसी बालक-जैसा है? क्या यह भी पेशेवर है?"

लगता तो ऐसा ही है— मैंने अपने आपसे कहा और आगे बढ़ना चाहा, तभी मन में तर्क उठा—यह लड़का तो छब्बीस आने उठाये जाने की बात कहता है और छः और छब्बीस आने में अन्तर है। फिर उसकी जेब फटी नहीं है। किसी ने उसके थाल में से पैसे उठाये हैं। मैंने स्वयं कई लम्बे आदमियों को छोटे व्यक्तियों या बालकों के सिर पर रखे सामान में से चोरी करते

देखा है।

मन कुछ ढीला पड़ा और करुणा की पकड़ कुछ गहरी हुई पर तबतक वह बालक दूर जा चुका था। इस बात ने मुझे और भी प्रभावित किया। वह कहानी कह कर रुका नहीं, चला ही गया। वह अवश्य सच्चा था झूठा होता तो गिडगिड़ाता; खड़ा रहता। ......नहीं-नहीं, वह सच्चा है। किसी दुष्ट ने उस गरीब की कमाई पर डाका डाला है। बेचारा गरीब बालक, शायद उसका बाप मर चुका है! घर पर उसकी मां उत्सुकता से उसकी राह देख रही होगी। डाके की बात सुनकर वह क्या कहेगी? उसका दिल टूट जायगा। उन्हें शायद फाका भी करना पड़े।.....

बस मेरा मन पिघल गया। मैंने जेब में हाथ डाला, पर तभी मैं फिर कांपा—"कहीं वह ठग ही तो नहीं है! पहुँचा हुआ ठग!"

"वह बालक......!"

"बालक तो बड़ों के कान कतरते हैं!"

"नहीं-नहीं"—मैंने गरदन को झटका दिया और जेब से एक रुपये का नोट निकाल कर उसके पीछे लपका—"कम-से-कम एक रुपया तो उसे देना ही चाहिए।"

वह तबतक गली से बाहर सड़क पर आगया था। कुछ अंधेरे के कारण और कुछ मोड़ होने के कारण मैं उसे ठीक-ठीक देख नहीं पा रहा था, केवल उसके रोने की आवाज के पीछे चला जा रहा था। कुछ पास आकर मैंने चाहा कि पुकारूं कि तभी देखता क्या हूँ कि राहगीर उसके पास आकर कुछ पूछ रहा है। मुझे लगा हो कि वह व्यक्ति लड़के के रहे-सहे पैसे छीनने आया है! मैं आवेश में आकर चिल्ला उठा—"क्या बात है?"

राहगीर मुड़ा, बोला—"कुछ नहीं बाबूजी। बेचारे बच्चे के थाल में से किसी कमबख्त ने पैसे उठा लिये हैं!"

और जबतक मैं उनके पास पहुँचूं, वह व्यक्ति जिस तेजी से

आया था उसी तेजी से भीड़ में जा मिला। मुड़ते-मुड़ते जितना कुछ मैं उसे देख सका, उससे पता लगा कि वह कोई गरीब मजदूर था, उसके कपड़े मैले थे और पैर नंगे।

मैं अब उस लड़के के बिलकुल पास आ गया था और वह लड़का चुपचाप ढेर सारे पैसों को कागज में लपेट रहा था। मैं कांपा। नोट को मुट्ठी में भींच कर कुछ तलखी से पूछा, "क्यों रे, पैसे कहां से आये ?"

"वह आदमी दे गया है!"

"सब ?"

"उसने एक रुपया दस आने दिये हैं।"

यह कह कर वह भी आगे बढ़ गया, पर मेरे पैर तो जैसे मन-मन भर के हो गए थे। तर्क का बोझ जैसे मुझे धरती में गाड़े दे रहा था। हाथ में रुपये का नोट दबाये देर तक मैं वहीं खड़ा रहा।

अन्य बालोपयोगी प्रकाशन

१. हरिश्चन्द्र
२. सबके बापू
३. जनता के जवाहर
४. हमारे सरदार
५. राष्ट्रपति राजेन्द्र
६. सीख की कहानियां
७. चिड़िया की नसीहत
८. सावनमल का इन्साफ
९. भले रहो ! चंगे रहो !
१०. मेरा घर
११. बीरबल की कहानियां
१२. बालकों के आचार
१३. बालकों की रीति-नीति
१४. देशप्रेम की कहानियां
१५. एवरेस्ट की कहानी
१६. कौआ चला हंस की चाल
१७. विजय किसकी ?
१८. मां का बेटा
१९. गांधी-शिक्षा (३ भाग)
२०. रामतीर्थ-सन्देश (३ भाग)
२१. बालकों का विवेक
२२. देश-वार्ता

एक रुपया